मानव मूल्य एवं आचार

(Human Values and Ethics)

खण्ड – 1
मानव प्रकृति

इकाई – 1 मानव स्वरूप की अवधारणा–परिभाषा, आवश्यकता, प्रत्ययवादी दृष्टिकोण, भौतिकवादी दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 मानव स्वरूप की अवधारणा

1.3.1–परिभाषा

1.3.2–आवश्यकता

1.4 मानव स्वरूप की अवधारणा : प्रत्ययवादी दृष्टिकोण

1.5 मानव स्वरूप की अवधारणा : भौतिकवादी दृष्टिकोण

1.6 सारांश

1.7 परिभाषिक शब्द

1.8 अभ्यास हेतु प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

अथर्ववेद में ऋषि जब पूरी जिज्ञासा एवं गहन भाव से ''कस्मै देवाय हविषा विधेम''–'हम किस देवता को हवि समर्पित करें' का प्रश्न उठाता हैं तो हमें यह संकेत भी मिलता है कि 'मानव स्वरूप' एवंस्वयं की पहचान कैसे जीवन एवं जगत के प्रति हमारी दृष्टि को निर्धारित करती है। ऋषि की समस्या यह थी कि जब हमारे समक्ष अनेक देवता हैं तो हम किसे 'हवि' अर्पित करें, अथवा दूसरे शब्दों में हमारा व्यवहार किस देवता के प्रति सकरात्मक होना चाहिए। इस प्रश्न का स्वयं उत्तर देते हुए ऋषि कहते है कि ''**जो स्वयं का बोध कराता है**, बल देता है, जिसकी छाया में मृत्यु एवं अमरत्व है जिसकी सत्ता सृष्टि के पूर्व थी, हमेशा रहती है, हम उसी की आराधना करें।'

स्पष्ट है कि ''स्वयं का बोध'' ही वह सूत्र है जो हमारे समक्ष सब कुछ उद्घाटित करने में समर्थ है। अथर्ववेद का निहितार्थ है कि ''स्वयं को जानना'' ।आत्मावलोकन में ही सबको जानना है।

इस हेतु आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम यह जाने कि मनुष्य होने का क्या अर्थ है? 'कोऽहम्', मैं कौन हूँ? यह प्रश्न उस समय से मनुष्य को व्यथित करता रहा है, जबसे वह 'आत्म–चेतन' सत्ता के रूप में अस्तित्व में आया है। आत्म–चेतना के कारण मनुष्य के समक्ष 'मैं', 'तू', 'स्व' और पर का द्वंद्व उत्पन्न होता है। मनुष्य न केवल 'तू' को समझना चाहता है, अपितु 'मैं' को भी जानना चाहता है।

'तू' के अन्तर्गत समस्त चराचर जगत आता हैं जिससे मनुष्य व्यव्हृत होता हैं। यदि हम यह जानते है कि 'तू', 'मैं' से नितान्त भिन्न नहीं है तो उससे हमारा व्यवहार गुणात्मक रूप से उस व्यवहार से भिन्न होगा जिसमें यदि हम 'तू' और 'मैं' कोमौलिक रूप से भिन्न मानते है। जीवन एवं जगत हमें प्रदत्त रूप में प्राप्त हैं, हम स्वयं को किस रूप में जानते हैं वही उनके प्रति हमारे व्यवहार का निर्णायक होता है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जानेंगे कि मानव स्वरूप सम्बन्धी विभिन्न मत किस प्रकार जीवन एवं जगत से हमारे व्यवहार को नियंत्रित एवं निर्धारित करते है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप जान पायेंगे कि –

- मानव स्वरूप क्या है ?

- मानव स्वरूप सम्बन्धी विचार कैसे चराचर जगत से हमारे व्यवहार को निर्धारित करता है ?
- मानव स्वरूप को प्रत्ययवाद कैसे समझता है ?
- मानव स्वरूप को भौतिकवाद कैसे समझता ह ै?

1.3 मानव स्वरूप की अवधारणा

पशुओं की तुलना में मनुष्य का स्वयं एवं अपने वातावरण के ऊपर एक प्रकार का चेतन नियन्त्रण होता है। जहाँ पशु अपने वातावरण के प्रति निष्क्रिय रूप में, उसके एक अंश के रूप में सचेत रहता है, वहीं मनुष्य अपने बाह्य एवं आन्तरिक सम्पूर्ण वातावरण के प्रति सचेत रहता है। मानव चेतना का विषय (Object) है तथा मनुष्य स्वयं उस विषय का अध्येता या विषयी (Subject) है। पशु अपनी क्रिया के साथ अभिन्न होता हैं, क्योंकि वह स्वयं को उससे अलग नहीं कर पाता। इसके विपरीत मनुष्य में अपने जीवन की क्रिया को अपनी इच्छाशक्ति एवं चेतना से प्रभावित करने की क्षमता है।

1.3.1 मानव स्वरूप की परिभाषा :

मानव स्वरूप की कोई एक एवं सरल परिभाषा नही दी जा सकती है। दर्शन शास्त्र के इतिहास से ज्ञात होता है कि विभिन्न देश एवं काल में मनुष्य को समझने का प्रयास हुआ है। कभी मनुष्य को देवता के रूप में समझा गया तो कभी उसे पशुओं की ही वृहत् श्रृंखला की विकसित प्रजाति के रूप में समझा गया। इन्हीं दोनों दृष्टियों के द्वन्द्व के द्वारा मनुष्य एवं उसके वातावरण के मध्य सम्बन्ध को विश्लेषित किया जा सकता है।मनुष्य की बुद्धि की यह सामर्थ्य है कि वह देश एवं काल की सीमाओं का

अतिक्रमण कर उस स्थिति से ऊपर उठकर सोच सकता है। मनुष्य की इस क्षमता में ही देवत्व के बीज देखे गये हैं। जैसा कि हम पहले बता चुके है कि पशु अपनी क्रिया से अपने को अलग नहीं कर पाता क्योंकि वह मात्र 'चेतन' होता है जबकि मनुष्य 'आत्म–चेतन' होने के कारण 'स्वयं' एवं 'स्वयं की क्रिया' में भेद कर सकता है। मनुष्य का यह 'स्वयं', 'मैं' क्या है? इसे ही प्रायः 'आत्मा' की संज्ञा देते हुए वास्तविक मनुष्य के रूप में समझा गया, जिसमें अपनी परिस्थितियों को नियंत्रित करने की क्षमता है। लेकिन इस स्वतंत्र, स्वायत्त 'आत्मा' की सत्ता पर आधुनिक युग के अनेक चिंतकों ने आपत्ति की है। इनकी दृष्टि में 'मनुष्य' के स्वरूप के निर्धारण में सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक कारकों का योगदान होता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य के पास कोई पूर्व निर्धारित, देश एवं काल से परे स्वरूप नहीं होता है। वह 'आत्मा' जिसे मनुष्य का

वास्तविक स्वरूप समझा जाता रहा है उस पर अनेक दिशाओं से प्रहार हुए हैं, और यह विश्वास कि मनुष्य एक अभौतिक, शाश्वत आत्मा है, पिछली कुछ शताब्दियों से खण्डित होने लगा है। आधुनिक चिन्तन में ऐसा प्रतीत होने लगा है कि 'मनुष्य' के 'मैं' के निर्माण में बहुत से वाह्य कारकों का योगदान होता है और 'मनुष्य' का स्वरूप वाह्य कारकों से निर्मितएवं उस पर निर्भर होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य प्रारम्भ से ही यह जानने को उत्सुक रहा है कि वह कौन है? उसका स्वरूप क्या है? यह सही है कि ऐसा प्रश्न मनुष्य ही पूछ सकता है क्योंकि वह आत्म–चेतन सत्ता है। उसकी चेतना न केवल वाह्य, भौतिक, आनुभविक जगत को प्रतिबिम्बित करती है बल्कि अन्दर मुड़ कर वहउसे भी जानना चाहती है जिससे सब जानना सम्भव होता है।

1.3.2 मानव स्वरूप को जानने की आवश्यकता :

मानव स्वरूप का विश्लेषण इसलिए आवश्यक है क्योंकि मानव स्वरूप की हमारी समझ हमारे राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक व्यवहार को प्रभावित करती है। मनुष्य एक शरीर है अर्थात् मनुष्य की एक भौतिक सत्ता है। इसी के साथ यह भी एक तथ्य है कि हम एक आत्म–चेतन सत्ता भी हैं। आत्म–चेतन होने के कारण मनुष्य अपनी भौतिक सत्ता का अतिक्रमण भी कर सकता है सीमित से हम असीमित की तरफ यात्रा कर

सकते हैं। इस तथ्य के आलोक में :

(अ) यदि हम स्वयं को भौतिक सत्ता के रूप में समझे तो निश्चित ही हमारा व्यवहार इस सत्ता के दायरे तक ही सीमित रहेगा। हमारा समस्त क्रिया–कलाप ऐसा होगा जिससे हमारे शरीर को अधिकाधिक सुख प्राप्त हो, इन्द्रियों की संतुष्टि हमारा परम ध्येय होगा। जो शरीर को, इन्द्रियो को प्रीतिकर लगे वही हमारे लिए 'मूल्य' होगा, साध्य होगा। प्रीतिकर ही श्रेष्ठ के रूप में स्थापित होगा।

मानव शरीर को ही मानव स्वरूप का केन्द्र मानने वाले चिंतको की दृष्टि में प्रत्येक मनुष्य सदैव सुख की ही कामना एवं खोज करता है, अर्थात् मनुष्य के समस्त कर्म सुख–प्राप्ति के हेतु से ही प्रेरित होते है। मनुष्य के प्रत्येक कर्म के पीछे अधिकतम सुख प्राप्त करने की ही इच्छा निहित होती है। इस दृष्टि से मनुष्य को सुख प्रदान करने वाला कर्म ही 'शुभ', 'वांछनीय' एवं श्रेयस है तथा दुख देने वाले कर्म 'अशुभ', त्याज्य हैं। ऐसे सभी विचारों को अपरिष्कृत तथा स्थूल सुखवाद भी कहा जाता है, क्योंकि इस विचार के अनुसार बौद्धिक या मानसिक सुख की तुलना में शारीरिक सुख ही महत्वपूर्ण है। इतना ही नहीं इन विचारकों की दृष्टि में मनुष्य को न केवल अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना चाहिए बल्कि सुदूरवर्ती, अनिश्चित भविष्य के सुख की अपेक्षा

तात्कालिक, निश्चित, वर्तमान सुख को ही वरीयता देनी चाहिए।

(ब) उपर्युक्त के विपरीत यदि हम स्वयं को 'आत्म–चेतन' सत्ता के रूप में स्वीकार करते है तो निश्चित ही हम शरीर, इन्द्रियों से ऊपर उठकर चीजों को देखेंगे। हम उसे जानने को बाध्य होगें जो सभी के लिए कल्याणकारी, श्रेयस्कर हो। मानव स्वरूप को समझने में मानवीय एवं पशु संवेदनशीलता के अन्तर की हमउपेक्षा नहीं कर सकते है। पशु भी वस्तुओं से भौतिक स्तर पर प्रभावित होता है। उसमें भी इन्द्रिय संवेदन होते है और उनकी प्रतीतियों के भी वही आधार होते हैं जो मनुष्य के होते हैं, लेकिन मनुष्य के आत्म–चेतन होने के कारण इन प्रतीतियों के स्वरूप में मौलिक अन्तर आ जाता है। इसीलिए मात्र भौतिक प्रतिक्रियाओं के आधार मानव स्वरूप को समझने का प्रयास पूर्णतया अनुचित सिद्ध होगा।यह सही है कि भौतिक एवं दैहिक प्रक्रियाएँ भी जीवित मनुष्य की ही होती हैं और इनकी भी उपेक्षा मनुष्य को समझने में नहीं की जा सकती है। पुरानी कहावत भी है कि ''बुमुक्षितम् किम् न करोति पापम्'' अर्थात भूखा व्यक्ति कौन सा पाप नही कर सकता है, अर्थात् भूखा व्यक्ति कोई भी पाप कर सकता है, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है।इसी के साथ यह भी हमें दिखाई देता है कि कोई भी व्यक्ति अपनी संतान, अपने प्रिय के लिए किसी भी सीमा तक कोई भी कष्ट खुशी–खुशी सहन करता है। यह तथ्य इस बात का प्रमाण भी है कि मनुष्य अपने 'स्व' से किन्हीं परिस्थितियों में ऊपर उठकर भी ऐसे कार्य सम्पादित करता है जिसकी हम तब अपेक्षा नहीं कर सकते यदि मनुष्य को पूरी तरह इन्द्रियों, भौतिक सत्ता तक ही पशु के समान सीमित मान लिया जाय। इसलिए मनुष्य को यदि समझना है तो हमें उसे मात्र दैहिक, भौतिक सत्ता तक विघटित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। इतना ही नही यदि हम ऐसा करते है तो मनुष्य एवं पशु के मध्य अन्तर ही पूर्णतया विलुप्त हो जायेगा।

मनुष्य आत्म–चेतन सत्ता है इसीलिए वह 'प्रेयस' के स्थान पर 'श्रेयस' को वरीयता देता है, उसे मूल्य के रूप में स्थापित करता है। 'प्रेयस' क्षण विशेष में प्रिय एवं सुखकारी होता है इसलिए हम उसकी कामना करते हैं। 'प्रेयस' ऐन्द्रिक स्तर पर सुखकारी होने के कारण प्रियहोता है, जबकि 'श्रेयस' हमारे संकल्प से सम्बन्धित है, उसका स्रोत हमारी 'आत्म–चेतन' बुद्धि है, हमारी सोचने समझने की क्षमता है जिसके स्पर्श से वस्तुएँ, भौतिक सत्ताएँ 'श्रेयस' का रूप ग्रहण करती है और हमारे लिए ग्राह्य एवं बाध्यकारी हो जाती है और हम उनकी प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होते हैं। स्पष्ट है कि 'श्रेयस' की स्वीकृति का धरातल ऐंद्रिक न हो बौद्धिक होता है।

स्पष्ट है कि यदि हम मनुष्य को मात्र एक दैहिक, भौतिक सत्ता मानेंगे तो हमसुखवाद का समर्थन करेंगे और 'प्रेयस' को ही 'मूल्य' के रूप में प्रतिष्ठित करेंगे, लेकिन यदि हम मनुष्य को आत्म–चेतन सत्ता के रूप में स्वीकार करेंगे, तो एक ऐसा व्यक्तित्व परिलक्षित होगा जो मात्र सुखों के लिए ही नही जीता बल्कि कामनाओं का

अतिक्रमण करते हुए, उनसे मुक्त होते हुए पूर्ण स्वतंत्रता का जीवन जीना चाहता है। ऐसा व्यक्ति 'श्रेयस' को मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है और इन्द्रियजन्य भावनाओं से नियंत्रित न हो 'बुद्धि' से नियंत्रित होता है, और इसी में उसके जीवन की सार्थकता होती है और ऐसे ही व्यक्ति का जीवन हमारे समक्ष एक उदाहरण के रूप में होता है। उसके जीवन को हम निरपेक्ष मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित कर सकते है। अध्याय चार में आप ऐसे ही कतिपय महान अनुकरणीय व्यक्तियों के जीवन के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

1.4 मानव स्वरूप की अवधारणा :प्रत्ययवादी दृष्टिकोण

अभी तक आपने जाना कि मनुष्य के पास शरीर तो है ही, साथ ही साथ उसके पास यह भी क्षमता है कि वह शरीर की सीमाओं का अतिक्रमण भी कर ले, क्योंकि वह एक आत्म चेतन सत्ता है। जिन विचारको ने मनुष्य के चेतन पक्ष पर बल दिया और इसे ही मनुष्य की विवेचना हेतु एकमात्र तत्त्व माना उन्हें हम प्रत्ययवादी विचारको की श्रेणी में रख सकते हैं। दार्शनिक स्तर पर **प्रत्ययवाद वह विचारधारा है जो 'चेतना' को स्वतंत्र मानती है तथा जड़ पदार्थ को इस पर निर्भर मानती है।'**

स्वाभाविक है कि प्रत्ययवाद मनुष्य के स्वभाव की विवेचना हेतु 'चेतना' या सामान्य रूप से 'आत्मा' को केन्द्र में रख कर विचार करेगी। इस दृष्टि से मनुष्य मूलतः एक 'आत्मा' है जो चेतन एवं स्वयं–प्रकाशवान हैं, जिसके प्रकाश से ही समस्त जगत आलोकित होता है। प्रत्ययवादी विचारकों के अनुसार 'आत्मा' ही मनुष्य के स्वभाव का आधार है, इसे जानकर ही मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को समझा जा सकता है। 'आत्मा' को अनुभूत किए बिना कोई भी न तो स्वयं को जान सकता है और न ही सृष्टि के आधार को जान सकता है। मनुष्य को जानने का प्रत्ययवादी विचार केवल भारतीय चिंतन में ही नहीं दिखाई देता बल्कि पाश्चात्य चिंतन में भी इसकी विस्तृत चर्चा दिखाई देती हैं। प्लेटो, अरस्तू, एक्विनास, डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनिज, बर्कले, कांट, हीगल, ब्रैडले आदि दार्शनिकों के विचार भी इसी श्रेणी में रखे जा सकते है। मनुष्य को समझने हेतु प्लेटों के प्रत्ययों की अवधारणा, डेकार्ट के कथन ''मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ'' आदि को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।

भारतीय एवं पाश्चात्य विचार में मनुष्य को समझने के प्रत्ययवादी आयाम की विस्तृत चर्चा द्वितीय एवं तृतीय ईकाई में की जायेगी।

1.5 मानव स्वरूप की अवधारणा :वस्तुवादी व्याख्या

इसके पूर्व हमनें मनुष्य को समझने के 'प्रत्ययवादी' दृष्टि को जानने का प्रयास

किया। अब हम मनुष्य को जानने के वस्तुवादी दृष्टिको समझने का प्रयास करेंगे। 'वस्तुवाद' वह दृष्टि है जो भौतिक पदार्थ को स्वतंत्र मानती है और इसके संदर्भ में ही चेतना सहित शेष सभी को व्याख्यायित करती है। वस्तुवादी सोच मनुष्य को जानने समझने हेतु उसके शरीर को केन्द्र में रखकर विवेचना करती है। मानव प्रकृति को समझने के लिए हमें प्रकृति को भी जानना होगा क्योंकि प्रकृति के साथ ही मानव प्रकृति को जटिलता के आधार पर समझा जा सकता है। जटिलता एक सार्वभौम प्राकृतिक घटना है एवं मानव प्रकृति में भी इसकी अभिव्यक्ति व्याप्त है। इसके कारण मानव प्रकृति में निम्नलिखित लक्षणों को हम देख सकते है :

- मानव स्वरूप के निर्माण में शरीर के विभिन्न अंगों में परस्पर समन्वय की भूमिका दिखाई देती है, दूसरे शब्दों में मानव स्वरूप बहुआयामी है–इसका कोई एक सार तत्त्व नही है बल्कि इसका निर्माण विभिन्न तत्त्वों के सहयोग से होता है।
- मानव स्वरूप के निर्माण के प्रत्येक अंग परस्पर निर्भर हैं इसलिए उन्हें एक–दूसरे से अलग करके नही देखा जा सकता है।
- मानव स्वरूप का न्यूनीकरण भी नही किया जा सकता, दूसरे शब्दों में इसे न तो किसी मूल सार तक न्यून किया जा सकता है न ही इसको, इसे बनाने वाले भागों के योग के रूप में समझा जा सकता है।

मानव स्वरूप की प्रकृति अपने में अत्यन्त जटिल है इसलिए इसे न तो आसानी से समझा जा सकता है और न ही इसके बारे में पहले से कोई भविष्यवाणी की जा सकती है क्योंकि इसे वैज्ञानिक तथ्यों के समान किसी कारण कार्य सम्बन्ध के आधार पर व्याख्यापित नही किया जा सकता है। मानव स्वरूप अनेक तत्त्वों की अन्तर्क्रिया से निर्मित जटिल पूर्णत्व है। मानव स्वरूप को निर्मित करने वाले प्रमुख तत्त्व है : मानवीय भावनाएँ, क्षमता, सामर्थ्य एवं आठ मूल आयाम (अ) प्रगतिशील प्रकृति, (ब) सामाजिक प्रकृति, (स) सुखवादी प्रकृति, (द) काम की प्रकृति, (ङ) आर्थिक प्रकृति, (च)

आत्म–संरक्षण की प्रकृति, (छ) प्रतियोगिता की प्रकृति (ज) और एक व्यक्तित्व।

मानव स्वरूप के उपर्युक्त आठों आयाम न केवल मौलिक हैं, बल्कि सार्वभौमिक भी हैं। सभी लोगों के ऊपर यह आयाम लागू होते है इसीलिए यह सार्वभौमिक कहे जा सकते है। देश काल एवं संस्कृति से परे प्रत्येक व्यक्ति के स्वरूप में इन्हीं आयामों का योगदान दिखाई देता है, इसीलिए इन्हें आधारभूत या मौलिक भी कहा गया है। इन्हीं के अन्तर्गत मानव स्वरूप को सहजता से समझा जा सकता है।

उपर्युक्त आठों आयाम के आधार पर वस्तुवादी दृष्टि से हम मानव स्वरूप को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं :

- प्रत्येक व्यक्ति का यह प्रयास होता है कि उसे कम से कम प्रयास में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो। मनुष्य की आर्थिक प्रकृति इसी को स्पष्ट करती है।
- उपर्युक्त से जुड़ा यह भी एक तथ्य है कि हम सभी सुख को तो चाहते है लेकिन दुःख, कष्ट को नही चाहते है। मनुष्य की सुखवादी प्रकृति इसी को व्यक्त करती है।
- सुखवादी प्रकृति की ही अभिव्यंजना व्यक्ति की 'काम प्रकृति' में दिखाई देती है। 'काम' शरीर की एक अत्यन्त, सहज एवं प्राकृतिक आवश्यकता है जिसे समझना मानव स्वरूप को समझने में सहायक हो सकता है। इसी आयाम की विवेचना फ्रायड के विचारों में मिलती है।
- कोई भी व्यक्ति अपने वातावरण से किस ढ़ंग से व्यवहार करता है एवं उसमें किस तरह समायोजित होता है, इसी से उसके व्यक्तित्व का आंकलन किया जा सकता है।
- अपने 'स्व' को संरक्षित करना ही आत्म–संरक्षण की प्रकृति हैं।
- अपने प्रतियोगी स्वरूप के कारण ही व्यक्ति स्वाभाविक एवं सार्थक रूप से लाभप्रद संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित करता है।
- व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति, सामाजिक संगठन का निर्माण करने एवं उसके सदस्य होने की प्राकृतिक आवश्यकता का द्योतक है।
- व्यक्ति की निरन्तर विकसित होने की प्रकृति उसकी ज्ञानात्मक विकास की प्राकृतिक सामर्थ्य को प्रकट करती है।

इतना ही नही हम यह भी देखते है कि प्रेम, अहंकार, अपराध या लज्जा जैसी मानवीय भावनाएं अपेक्षाकृत आधारभूत भावनाओं जैसे भय, हर्ष या क्रोध की ही मानवीय, जटिलमानसिकता की ही भिन्न अभिव्यक्तियाँ है।

- भाषा एवं तर्क की हमारी क्षमता परम्परा से प्राप्त एवं अर्जित कुशलता हैं।

- दूसरों की भावनाओं को समझने एवं अनुभूत करने की क्षमता, सृजनात्मकता या नैतिक विकास की भी मनुष्य की मानवीय परम्परा से प्राप्त सम्भावनाएँ है, जिन्हें हम विकसित कर सकते हैं।

वस्तुवादी दृष्टि से मानव स्वभाव को विकास की लम्बी प्रक्रिया का परिणाम माना गया हैं और इसे मनुष्य के विकसित केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के आधार पर समझने का प्रयास हो रहा है। हमारे तंत्रिका तंत्र के विकास की जड़े अत्यन्त प्राचीन है जिसके सूत्र इन्द्रियों की अनुभूति रखने वाले प्रथम प्राणियों से होकर आधुनिक मनुष्य के मस्तिष्क तक खोजे जा सकते है। यह प्रक्रिया अभी भी जारी है। मानव स्वभाव का विकास प्राणियों के तंत्रिका तत्र के विकास से हुआ है। समस्त विकास के समान तंत्रिकाओं का विकास भी निम्न स्तर की जटिलताओं से उच्च स्तर की जटिलताओं में होता है। इनमें एक क्रमानुसार संरचना निर्मित होती है; जहाँ उच्च स्तरीय जटिल प्रक्रियाएँ निम्न स्तरीय प्रक्रियाओं के अधीन होती है। मनुष्य में आर्थिक स्वभाव, सुखवादी स्वभाव, काम की प्रकृति एवं व्यक्तित्व, जीन संरक्षण की प्रकृति निम्नस्तरीय विकास के द्योतक है। इसके विपरीत सामाजिक प्रकृति, प्रतियोगी प्रकृति, आत्म स्वाभिमानयुक्त आत्म–संरक्षण का स्वभाव उच्च स्तरीय जटिलता को व्यक्त करते है तथा यह पूर्ववर्ती निम्न स्तरीय जटिलताओं के अधीन रहते है।

मानव स्वरूप की वस्तुवादी व्याख्या के केन्द्र में मनुष्य के विकास की पूरी कहानी छिपी है कि किस प्रकार मनुष्य अपने उद्‌भव की आदिम अवस्था से होते हुए आधुनिक जटिल मनुष्य तक पहुँचा है। प्रारम्भिक मनुष्य अपने स्वभाव में शरीर की आवश्यकताओं तक ही सीमित था तथा मनुष्य और जानवर में बहुत अन्तर नही था क्योंकि मनुष्य के पास भी उस समय कोई भाषा नही थी जिसमें वह अपने को, अपनी भावनाओं, इच्छाओं को व्यक्त कर सके। जानवर के समान ही वह शारीरिक भाव–भंगिमाओं के द्वारा ही अपनी भावनाओं को व्यक्त करने में समर्थ था। विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप मनुष्य न केवल प्रकृति में परिवर्तन करने में सफल हुआ बल्कि स्वयं की प्रकृति में भी अपेक्षित विकास एवं परिवर्तन करने में सफल हुआ। वस्तुवादी विचारधारा मानव प्रकृति के विभिन्न आयामों को मनुष्य के भौतिक स्वरूप एवं उसकी भौतिक परिस्थितियों के आधार पर समझने एवं व्याख्यापित करने का प्रयास करती है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य को किसी अतीन्द्रिय, अनुभवातीत सत्ता के सन्दर्भ में समझने का प्रयास न केवल त्रुटिपूर्ण है बल्कि इससे मनुष्य को सही ढ़ंग से समझा भी नही गया है।

1.6 सारांश

अभी तक हमने मानव स्वरूप के सम्बन्ध में जो समझा है उसे संक्षेप में निम्नलिखित रूप में व्यक्त कर सकते है :

मनुष्य एक ऐसा प्राणी जो अन्य प्राणियों के समान ही इस पृथ्वी का एक सदस्य है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणी मात्र अपने शरीर तक ही सीमित रहते है अर्थात् उनके लिए शरीर की सीमा का अतिक्रमण करना सम्भव नही होता। लेकिन मनुष्य केवल चेतन जीवित सत्ता ही नही है बल्कि एक आत्म चेतन सत्ता है। मनुष्य की चेतना न केवल वर्हिर्गामी है बल्कि वह अन्तर्मुखी भी है। उसके समक्ष, उसे छोड़कर शेष 'अन्य' 'भिन्न' रूप में प्रस्तुत होता है और उसे 'मैं' का बोध होता है। मनुष्य का 'मैं' सदैव 'तू' के सन्दर्भ में निर्मित होता है। जब मनुष्य 'तू' को समझने का प्रयास करता है तो उसका 'मैं' आकारबद्ध होता है उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण, निर्माण होता है। मनुष्य के 'मैं', उसके स्वरूप को दो दृष्टियों–प्रत्ययवादी एवं वस्तुवादी से समझने का प्रयास किया गया है।प्रत्ययवाद मनुष्य को समझने में उसके 'आत्म चेतन' आत्मा पर बल देता है और यह मानता है कि मनुष्य किसी अतीन्द्रिय, अनुभवातीत सत्ता की अभिव्यक्ति है। प्रत्ययवाद के विपरीत वस्तुवाद मनुष्य को उसके शरीर–भौतिक सत्ता के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करता है। मनुष्य के स्वभाव को समझने में शरीर को केन्द्रीय मानने की स्वाभाविक परिणति सुखवादी नैतिक चिन्तन में दिखाई देता है। मानव स्वभाव की सही समझ तभी विकसित हो सकती है जब हम मनुष्य को मात्र एक दैहिक, भौतिक सत्ता के रूप में ही न समझे बल्कि उसके आत्म चेतन स्वरूप को भी जानें, क्योंकि मनुष्य अपनी सीमितता, भौतिक सत्ता का अतिक्रमण भी कर सकता है।

1.7 पारिभाषिक शब्द

(अ) प्रत्ययवाद :

वह सिद्धान्त जो 'चेतना' को स्वतंत्र मानती है तथा वस्तु को इस पर निर्भर मानती है।

(ब) वस्तुवाद :

इस सिद्धान्त के अनुसार 'वस्तु', 'जड़ पदार्थ' स्वतंत्र होते है तथा 'चेतना' की उत्पत्ति जड़ तत्वों के विशिष्ट संयोग से होती है।

1.8 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. मूल्यों की विवेचना निर्भर है :

(अ) मानव स्वभाव सम्बन्धी सिद्धान्त पर

(ब) नीतिशास्त्र पर

(स) दार्शनिक विचारों पर

(द) उपर्युक्त सभी पर

2. प्रत्ययवाद के अनुसार :

(अ) वस्तु स्वतंत्र होती है।

(ब) वस्तु चेतना पर निर्भर होती है।

(स) चेतना स्वतंत्र होती है।

(द) ब एवं स दोनों।

3. वस्तुवाद के अनुसार :

(अ) चेतना स्वतंत्र होती है।

(ब) वस्तु चेतना पर निर्भर होती है।

(स) चेतना, वस्तु पर निर्भर होती है।

(द) उपर्युक्त में से कोई नही।

4. मानव स्वभाव की सम्यक विवेचना हेतु

(अ) मानव के शरीर को ही केन्द्र में रखना होगा।

(ब) मानव के आत्मा को केन्द्र में रखना होगा।

(स) उपर्युक्त दोनों का।

(द) उपर्युक्त किसी को भी नहीं।

इकाई–2 मानव स्वरूप–वेद ,उपनिषद् एवं षड् दर्शन के अनुसार विवेचन

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2. उद्देश्य
2.3 मानव स्वरूप–प्राचीन भारतीय दर्शन के अनुसार
2.3.1 वेद के अनुसार मानव स्वभाव
2.3.2 उपनिषदों के अनुसार मानव स्वरूप
2.4 षड् दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा
2.5 नास्तिक दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा
2.6 सारांश
2.7 पारिभाषिक शब्द
2.8 अभ्यास हेतु प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने यह जानने का प्रयास किया कि ''स्वयं का बोध'' ही वह सूत्र है जिससे जीवन एवं जगत के प्रति हमारे व्यवहार का विश्लेषण किया जा सकता है। 'स्वयं का बोध' वास्तव में मानव स्वरूप का बोध है। किसी भी प्रकार की मूल्य परक विवेचना मानव स्वरूप से ही निर्धारित होती है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई एवं अगली कुछ इकाईयों में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि क्यों भारतीय दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन के अन्तर्गत मानव स्वभाव की भिन्नता दोनों दृष्टियों की मूल्यपरक विवेचना को प्रभावित करती है। दोनों दृष्टियों में मानव स्वभाव की विवेचना के पूर्व यह आवश्यक है कि हम 'विचार' के स्वरूप को समझे एवं इसी सन्दर्भ में 'दर्शन' एवं 'फिलॉसफी' शब्द के अन्तर को भी जाने क्योंकि दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द न होकर वस्तुतः जीवन एवं जगत को समझने की दो दृष्टियाँ हैं। मानव स्वरूप की किसी भी समाज की विवेचना के पूर्व इन दृष्टियों को ठीक से समझना आवश्यक है।

2.3 मानव स्वरूप : भारतीय दृष्टि

भारतीय दृष्टि के अन्तर्गत हम सर्वप्रथम वेद एवं उपनिषदों में व्यक्त मानव स्वरूप की विवेचना निम्नलिखित रूप से करने का प्रयास करेंगे–

2.3.1 वेद के अनुसार मानव स्वरूप :

'वेद' न केवल भारत बल्कि सम्पूर्ण विश्व साहित्य के सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। 'वेद' का अर्थ 'ज्ञान' है जिसे ऋषियों ने तपस्या के द्वारा 'अभय ज्योति के रूप में साक्षात्कार किया था और उसे मंत्र–रूप में शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया था। वेद श्रुति है और अपने अलिखित रूप में ही वे लम्बे समय तक गुरू–शिष्य परम्परा द्वारा सुरक्षित रहे हैं। शब्द इसके वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने में असमर्थ है फिर भी शब्द ही मनुष्य को उपलब्ध एकमात्र साधन है जिससे वह अपनी आन्तरिक अनुभूतियों को व्यक्त कर सकता है।

स्थूल दृष्टि से 'वेद' चार हैं, यथा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद। परन्तु तत्त्वतः वेद एक ही है, वेद ज्ञान स्वरूप है। यह परा–वाक् या पश्यन्ति वाक्–स्वरूप है। ऋषियों ने 'आत्मा'–स्वयं के स्वरूप को जानने हेतु तपस्या की जिसके फलस्वरूप उन्हें एक 'तेजोमय स्वरूप' का दर्शन हुआ, उसी 'तेजोमय स्वरूप' की ऋषियों ने स्तुति की। उसी स्तुति की अव्यक्त अवस्था 'परावाक्' तथा व्यक्त अवस्था 'पश्यन्तिवाक्', इससे स्थूल

अवस्था 'मध्यमा वाक्' तथा स्थूलतम अवस्था जिसे हम सब बोलते है 'बैखरी वाक्' के नाम से प्रसिद्ध है।

इसी क्रम में जैसे–जैसे ऋषियों की अनुभूतियों में गहराई आती गयी वे उस एक सर्व शक्तिमान चेतन को जानने को उत्सुक होने लगे जिससे जड़ रूप अन्तःकरण, प्राण, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपना–अपना कार्य करने की शक्ति प्राप्त होती है।

भारतीय दृष्टि 'बाहर से अन्दर' जाने की है, वह तथ्यों को समझने हेतु जिन प्रत्ययों का सहारा लेता है वे अमूर्त होते है तथा तथ्यों को अर्थ प्रदान करते है। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में मनुष्य अपनी कर्मेन्द्रियों द्वारा जगत से सम्बन्ध स्थापित करता है तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उसे समझना चाहता है लेकिन जिस शक्ति से कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ अपना–अपना कार्य करने में समर्थ होती है उसे ऋषि ने 'ब्रह्म' की संज्ञा से अभिहित किया है लेकिन 'ब्रह्म' की कोई स्पष्ट व्याख्या या विवेचना सम्भव नही है क्योंकि जो भी व्याख्या हम करेंगे वह बुद्धि द्वारा ही होगी और बुद्धि उस स्रोत को स्वयं नहीं जान सकती जहाँ से उसे 'जानने की शक्ति' प्राप्त होती है।

2.3.2 उपनिषदों के अनुसार मानव स्वरूप :

मनुष्य को समझने हेतु जिस 'आत्म तत्त्व' का विकास संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं आरण्यकों में हुआ उसकी पूर्ण निष्पत्ति उपनिषदों में दिखाई देती है। आत्मा शब्द का मूल अर्थ 'प्राण वायु' है जिसे बाद में भावना, मन के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाने लगा। शंकराचार्य आत्मा को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि आत्मा वह है जो सभी में व्याप्त है, जो विषयि है, ज्ञाता है, अनुभवकर्ता है एवं विषय को प्रकाशित करता है और वह अनश्वर है, सदा एक समान रहता है

2.3.2.1 (क) छांदोग्य उपनिषद में प्रजापति एवं इन्द्र के बीच वार्तालाप का उल्लेख है

जिसमें मानव स्वरूप का उद्‌घाट्न भली–भाँति हुआ है। कथा के अनुसार देवताओं एवं राक्षसों ने क्रमशः इन्द्र एवं विरोचन को प्रजापति ब्रह्मा जी के पास यह जानने को भेजा कि 'हम कौन हैं?' अर्थात् मानव को किस प्रकार समझा जाय। प्रजापति ने उन्हें बत्तीस वर्ष कठोर तपस्या का निर्देश दिया जिससे वे इस ज्ञान के अधिकारी हो सके, अर्ह हो सके।

बत्तीस वर्ष तपस्या के बाद दोनों प्रजापति के पास जाते है और प्रजापति कहते हैं कि :

(अ) ''तुम वह हो जो दूसरों की आंखों में, स्थिर जल एवं स्वच्छ दर्पण में दिखायी देता है।''

इन्द्र एवं विरोचन दोनों ने स्वाभाविक रूप से इस उपदेश के अनुसार स्वयं को दूसरों की आंखों में, स्थिर जल एवं स्वच्छ दर्पण में देखा होगा और उन्हें मात्र अपना शरीर दिखाई पड़ा होगा दूसरे शब्दों में 'मैं = मेरा शरीर', ऐसा बोध हुआ होगा। विरोचन इस निष्कर्ष से पूरी तरह संतुष्ट हो गया लेकिन इन्द्र के मन में उपर्युक्त निष्कर्ष के प्रति शंका हुई कि कैसे 'मैं' का तादात्म्य शरीर से किया जा सकता है क्योंकि शरीर के सुन्दर होने पर क्या 'मैं' भी सुन्दर होगा? क्या शरीर के विकृत होने पर 'मैं' भी विकृत होगा? क्या शरीर के नष्ट हो जाने पर 'मैं' भी नष्ट हो जायेगा? शरीर जन्म लेता है, युवा होता है, बूढ़ा होता है? इन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुॅचे कि 'मैं = मेरा शरीर नही माना जा सकता है।'' अपनी शंकाओं के साथ वे प्रजापति के पास पुनः जाते हैं और प्रजापति फिर एक वाक्य में उत्तर देते है कि–

(ब) 'तुम वह हो जो स्वप्न देखता है और जो स्वप्न में स्वतंत्र रूप से विचरण करता है अर्थात् स्वप्नकर्त्ता के रूप में तुम हो।' दूसरे शब्दों में ''मैं = स्वप्नकर्त्ता।'' इन्द्र इस तादात्म्य से भी संतुष्ट नही हुए। यह ठीक है कि इस अवस्था में जो 'मैं' अर्थात् स्वप्नकर्त्ता है वह शारीरिक कमियों से अप्रभवित रहता है लेकिन फिर भी स्वप्नकर्त्ता स्वप्न की स्थिति में भयभीत भी होता है, रोता भी है, चिल्लाता भी है। स्वप्न का शारीरिक प्रभाव निश्चित ही होता है। इसलिए ''इसे भी 'मैं' के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता है।'' इन्द्र एक बार फिर प्रजापति के पास अपनी शंकाओं के साथ जाते है और प्रजापति पुनः एक वाक्य में उत्तर देते हुए कहते है कि–

(स) 'तुम, वह हो जो स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा का आनन्द लेता है।' दूसरे शब्दों में ''मैं = स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा का अनुभवकर्ता'' स्पष्ट है यह स्थिति उपर्युक्त दोनों स्थितियों से बेहतर है। हम जब प्रगाढ़ निद्रा से जगते है तो हमें इसीलिए से एक नवीन जीवन्तता का अनुभव होता है, हम स्वयं को तरोताजा अनुभव करते है। यह स्थिति एक तरह से अमूर्तता की अवस्था है, जहाँ अनुभव करने, जानने एवं सुख प्राप्त करने के लिए कोई विषय नही है। यहाँ विषयी पूरी तरह से 'अचेतन' अवस्था में प्रतीत होता है क्योंकि वह न तो कुछ जानता है, न अनुभव करता है और न ही इच्छा करता है, वह एक तरह 'शून्य', अभाव की स्थिति में है। लेकिन इस अवस्था में भी जगने पर हमें यह बोध होता है कि हमने गहरी नींद लिया है अर्थात् प्रगाढ़निद्रा में भी, जहाँ विषय एवं विषयि का द्वैत विलुप्त हो जाता है, 'किसी को' यह बोध बना रहता है कि उसने गहरी नींद लिया है।

इन्द्र अपनी शंकाओं को एक बार फिर प्रजापति के समक्ष रखते है और वे अपने योग्य शिष्य पर अत्यन्त प्रसन्न होते है और वह उपदेश देते है जो मानव स्वरूप की सबसे श्रेष्ठ विवेचना के रूप में हमारे समक्ष आती है। प्रजापति कहते है कि–

''शरीर आत्मा (मानव स्वरूप) नहीं है यद्यपि उसका अस्तित्व आत्मा के लिए ही है। स्वप्नावस्था के अनुभव भी आत्मा नही है, फिर भी वे आत्मा के लिए ही सार्थक है।

इतना ही नहीं आत्मा को सुषुप्ति के अमूर्त आकारिक सिद्धान्त के रूप में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। हमारी आँखे (अर्थात् समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ), शरीर, मानसिक अवस्थाएँ, इन्द्रिय प्रदत्तों एवं चेतना का प्रवाह सभी कुछ आत्मा हेतु साधन एवं विषय है। आत्मा ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति की अवस्था का आधार एवं अधिष्ठान है फिर वह इन सभी का अतिक्रमण करता है। आत्मा सार्वभौम, अर्न्तवर्ती होते हुए भी अतिक्रामी है। सम्पूर्ण चराचर जगत इसी में निहित है, गति करता है एवं जीवन पाता है। यह अनश्वर, स्वयं प्रकाश, स्वयं–सिद्ध एवं संदेहों तथा निषेधों से परे है क्योंकि यही वह सिद्धान्त है जिससे समस्त संदेह, निषेध एवं विचार सम्भव होते है। यही वह अन्तिम विषयि है जो कभी विषय नही होता और जिसे समस्त ज्ञान की पूर्ववर्ती शर्त के रूप में अनिवार्यतः स्वीकार करना होगा।''

2.3.2.2 (ख) मानव स्वरूप के बारे में जो संकेत एवं अन्तर्दृष्टि छांदोग्य उपनिषद में दिखाई देती है कुछ वैसा ही भिन्न–रूप में माण्डूक्य उपनिषद में भी मिलता है, जिसे

संक्षेप में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

जाग्रतावस्था में व्यक्ति स्वयं 'मैं' की पहचान वस्तु जगत की अनूभूतियों के परिप्रेक्ष्य में करता है, यहाँ इसे वाह्‌य जगत की चेतना होती है जिसे 'विश्व' की संज्ञा दी गयी है। इस आयाम में व्यक्ति ऐंद्रिक अनुभूतियों का भोक्ता होता है, स्वयं को वह ऐसे व्यक्ति के रूप में जानता है जिसका सर्वाधिक परिचय अपने शरीर–इंद्रियों एवं उनकी अनुभूतियों से होता है। इस स्तर पर व्यक्ति न केवल अधिकाधिक ऐंद्रिक अनुभूतियों की तरफ इस आशा से भागता है कि वह स्वयं को जान सके बल्कि भौतिक सुख–संपदा को भी इसलिए संचित करने की ओर अग्रसर होता है जिससे वह अन्यों को अपने 'स्व' का बोध करा सके।

स्वप्नावस्था में 'व्यक्ति', 'मै' को 'सूक्ष्म वस्तु' की अनुभूति होती है। उसे आंतरिक जगत की चेतना होती है, वह स्वयं काल्पनिक वस्तुओं का सृजन करती है तथा इस अवस्था को 'तेजस' कहा जाता है। यह स्थिति प्रथम स्थिति से श्रेष्ठ है क्योंकि यहाँ व्यक्ति स्वप्न का लेखक, अभिनेता, निर्माता एवं निर्देशक सभी कुछ होता है। इस स्थिति में उसे स्वप्न के स्वरूप के अनुसार हर्ष, विषाद, भय, आदि की शारीरिक स्तर पर अनूभूतियाँ भी होती है। लेकिन स्वप्नावस्था की समाप्ति के बाद सब कुछ पुनः यथावत् हो जाता है।

सुषुप्ति अर्थात् स्वप्न रहित निद्रा की अवस्था में न तो स्थूल और न ही सूक्ष्म, किसी भी प्रकार के पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहता है, परिणामस्वरूप कोई विषयि भी नहीं रह जाता है। इस अवस्था विषयि–विषय के द्वंद्व का अतिक्रमण हो जाता है। इसीलिए इस अवस्था को 'प्रज्ञा' की संज्ञा दी जाती है। इस आयाम में पीड़ा का अभाव होता है, न ही कोई इच्छा रहती है और न ही स्वप्न रहते हैं। यह अवस्था सर्वोच्च आनन्द के छाया की

है क्योंकि हमें सकारात्मक आनन्द की अनुभूति नहीं होती है। इस स्थिति में यह सही है कि दुःख नही होता, पीड़ा नही होती तथा विषयि एवं विषय का द्वैत भी नहीं रहता लेकिन इस अवस्था से बाहर आने पर व्यक्ति को एक तरह की ताजगी, नयेपन की अनुभूति भले ही होती है, लेकिन व्यक्ति में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता। यह अवस्था इन्द्र एवं प्रजापति के संवाद की तीसरी स्थिति के समान है। इन्द्र की इस अवस्था–सुषुप्ति के प्रति संदेह भी इसीलिए हुआ क्योंकि इस स्थिति में व्यक्ति एक अमूर्त, शून्य की अवस्था में रहता है जिसकी तुलना 'मृत्यु' से भी हो सकती है।

अनुभूतिगत समस्त निषेधों के बाद भी इस अवस्था के बाहर आने पर इस बात की अनुभूति व्यक्ति को रहती है कि उसे गहरी, स्फूर्तिदायक निद्रा आयी अर्थात् 'कोई तो था जो इस स्थिति से परे था', भले ही उसे जाग्रत एवं स्वप्न की अवस्था के समान कोई अनुभूति न हो रही हो।

2.4.2.3 (ग) 'रथ' की उपमा की सहायता से कठोपनिषद मानव स्वरूप को उद्‌घाटित करता है। इस दृष्टान्त के अनुसार वस्तुएँ मार्ग के समान है, शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े के समान हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी हैं, अहम् भोक्ता है, लेकिन वास्तव में जो 'व्यक्ति' उस रथ पर आरूढ़ है वही इस प्रक्रिया का स्वामी है, उसी के हेतु मार्ग, रथ, घोड़े, लगाम, सारथी आदि है। इसी दृष्टान्त के सहारे मानव के वास्तविक स्वरूप को समझना चाहिए–शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा सम्पूर्ण जगत 'मनुष्य' के संदर्भ में ही सार्थक है, उसी के हेतु है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा सम्पूर्ण जगत के आधार पर मनुष्य के स्वरूप को नहीं समझा जा सकता है बल्कि मनुष्य के नाते ही शरीर, शरीर है, इन्द्रियाँ, इन्द्रियाँ है। मन, बुद्धि तथा सम्पूर्ण जगत, मन, बुद्धि तथा सम्पूर्ण जगत का अस्तित्व प्राप्त करता है।

2.4 षड् दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा

पूर्व की इकाई में यह बताया जा चुका है कि भारत में 'दर्शन' ज्ञान का मात्र एक अनुशासन न होकर 'भारतीय जीवन दृष्टि' का द्योतक है और इसीलिए पूरब के पूरे चिंतन को 'बाहर से अन्दर जाने की प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है। समस्त आस्तिक दर्शनों यथा न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग, मीमांसा एवं वेदान्त में जिस प्रकार मानव–स्वरूप को समझने का प्रयास हुआ है, वह थोड़े–बहुत अन्तर के साथ वेद एवं उपनिषद में व्यक्त मानव–स्वरूप की विवेचना के समान प्रतीत होता है फिर भी अत्यंत संक्षेप में आस्तिक दर्शनों में मानव–स्वरूप की विवेचना को निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है :

- न्याय दर्शन का मूल ग्रंथ 'न्याय–सूत्र' है, जिसके रचयिता ऋषि गौतम है। इस

दर्शन को 'अक्षपाद दर्शन' भी कहा जाता है। इस दर्शन का लक्ष्य भी 'निःश्रेयस' (मोक्ष) प्राप्त करना है। इस हेतु वह तत्त्व ज्ञान प्राप्त करना चाहता है जिसमें मोक्ष प्राप्ति के साथ–साथ दुःखों की भी समाप्ति हो सके। मनुष्य एवं वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप–तत्त्वज्ञान को स्पष्ट करने के लिए न्याय सोलह पदार्थो–प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रह स्थान की व्याख्या करते है।

वैशेषिक दर्शन के आदि प्रवर्तक 'कणाद' है। इसे कणाद दर्शन या औलूक्य दर्शन भी कहा जाता है। जहाँ न्याय दर्शन ने मानव एवं वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु सोलह पदार्थो का वर्णन किया है, वहीं वैशेषिक दर्शन ने सात पदार्थो का उल्लेख किया है यथा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय एवं अभाव। यह सभी पदार्थ न्याय दर्शन के प्रमेयों के अन्तर्गत आसानी व्याख्यायित है एवं उनके द्वारा समझे जा सकते है इसलिए न्याय दर्शन में इनका अलग से वर्णन नहीं प्राप्त होता है। जैसे न्याय दर्शन के अनुसार मानव स्वरूप की विवेचना उनके द्वारा स्वीकृत बारह प्रमेयों के आधार पर किया गया है। ठीक वैसे ही वैशेषिकों के अनुसार मानव स्वरूप की समझ उनके द्वारा स्वीकृत सात पदार्थो के आधार पर विकसित की जा सकती है।

मीमांसकों ने 'आत्मा' को एक जड़ द्रव्य माना है क्योंकि जब तक आत्मा का मनस् से संयोग नही होता तब तक उसमें चैतन्य का अविर्भाव नही होता है। मीमांसक चैतन्य को आत्मा का स्वरूप नही मानते है तथा इसे वे एक आगन्तुक गुण मानते है जो आत्मा का मनस् एवं शरीर के साथ संयोग होने से उत्पन्न होता है। (प्रकरण पंचिका पृ0 149, 151, 156) प्रभाकर के अनुसार आत्मा का ज्ञान विषय–वित्तियों के ज्ञाता के रूप में होता है। आत्मा मूलतः ज्ञाता है जिसे ज्ञेय के रूप में नहीं जाना जा सकता है। प्रभाकर की स्थिति पश्चिमी दार्शनिक डेकार्ट से मिलती प्रतीत होती है क्योंकि उन्होंने भी 'संदेहकर्त्ता' के रूप में 'मैं' की सत्ता स्वीकार की थी।

यह सही है कि हमारा शरीर जड़ है लेकिन हम एक आत्मचेतन सत्ता भी है। हमारी शारीरिक, मानसिक या अन्य कोई क्रियाएँ मात्र शरीर या मन तक ही सीमित नही रहती बल्कि उनका कोई न कोई केन्द्र या अधिष्ठान अवश्य होता है जहाँ से हमें शारीरिक, मानसिक या अन्य क्रियाओं हेतु शक्ति एवं निर्देश प्राप्त होते है जिससे हमारी क्रियाएँ अन्य चेतन सत्ताओं की क्रियाओं के समान होते हुए भी गुणात्मक रूप में भिन्न

हो जाती है। मीमांसक इसी तथ्य को नही पाये थें।

हम न केवल क्रिया में संलग्न रहते है बल्कि उसके साक्षी भी हो सकते है जिससे हमारी क्रियाएँ शरीर एवं मन की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए उस आयाम को भी स्पर्श कर सकती है जिसे 'श्रेयस' द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और हम उस सूत्र को जान

पाते है जो हमें सम्पूर्ण चराचर जगत से संयुक्त कर देता है, हमें, अन्यों से अपनी अभिन्नता का बोध एवं परिचय प्राप्त होता है और तभी हमें अपने स्वरूप का यथार्थ बोध होता है।

सांख्य दर्शन द्वैतवादी है जहाँ प्रकृति एवं पुरूष नामक दो तत्त्वों की सत्ता स्वीकार की गयी है। प्रकृति सांख्य के अनुसार जगत का मूल कारण है जिसे 'प्रधान' भी कहा जाता है। यह जड़ एवं अचेतन है। इसके विपरीत पुरूष चेतना है। भारतीय दर्शन में मानव स्वरूप को 'आत्मा' की विवेचना के आधार पर समझने का प्रयास किया गया है। अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों जिसे 'आत्मा' की संज्ञा द्वारा व्यक्त किया गया है उसे ही सांख्य 'पुरूष' कह कर व्यक्त करते है। सांख्य के अनुसार पुरूष शुद्ध चेतना है। यह सर्वव्यापक, परिवर्तन रहित और शाश्वत है। यह निष्क्रिय है क्योंकि क्रियाशीलता प्रकृति में होती है। सांख्य के पुरूष को शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार या बुद्धि नही माना जा सकता है क्योंकि यह सब प्रकृति से सम्बन्धित है, प्रकृति के विकास के परिणाम है।

चेतना पुरूष का गुण नही है क्योंकि पुरूष द्रव्य नही है। वह चेतन स्वरूप है, चेतना उसका सार है। वह सभी गुणों से परे ज्ञान का आधार है। वह ज्ञाता, विषयि है इसलिए कभी भी ज्ञान का विषय नही बन सकता है। वह किसी भी ज्ञान की पूर्ववर्ती शर्त है। यह परिवर्तन एवं क्रिया तथा देश–काल से परे साक्षी एवं द्रव्य है। वह अकर्ता प्रकाश स्वरूप है जिससे सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती है, और चेतना का विषय बनती है। पुरूष केवल सुषुप्ति में ही नही अपितु जाग्रत एवं स्वप्न तीनों अवस्थाओं का साक्षी होता है। यहाँ पर सांख्य के पुरूष की तुलना माण्डूक्य उपनिषद् में व्यक्त मानव स्वरूप की विवेचना से की जा सकती है जहाँ जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति की विवेचना करते हुए इन तीनों के अधिष्ठान के रूप में तुरीय अवस्था का उल्लेख किया गया है। इस अवस्था में सुषुप्ति के सामन विषयि एवं विषय का द्वैत तो नही रहता लेकिन सुषुप्ति के विपरीत दुःख एवं पीड़ा के निषेधात्मक अभाव के स्थान पर सकारात्मक आनन्द की अनुभूति होती है। सांख्य की दृष्टि में विकास के परिणाम, मन, बुद्धि, इन्द्रियों, शरीर, अहंकार आदि जो संघातमय है, की सत्ता प्रकृति हेतु नही होती है क्योंकि अचेतन होने के कारण प्रकृति इनका उपयोग नही कर सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस सबका अस्तित्व चेतन पुरूष के हेतु, प्रयोजन के लिए है। इतना ही नही प्रकृति की समस्त वस्तुएँ त्रिगुण से युक्त है। त्रिगुणात्मक वस्तुओं का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि कोई सत्ता ऐसी भी होनी चाहिए जो इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करता हो और वह चेतन पुरूष ही हो सकता है। किस भी क्रिया के लिए कर्त्ता की स्वीकृति एक पूर्ववर्ती शर्त होती है इसलिए प्रकृति की क्रियाशीलता का कोई चेतन अधिष्ठान अवश्य होना चाहिए। चेतन अधिष्ठान के रूप में सांख्य पुरूष को स्वीकार करते हैं। प्रकृति भोग्य है, पुरूष इनका भोक्ता है

तथा सभी दुःखों, क्लेशों से निवृत्ति के आकांक्षी के रूप में सांख्य पुरूष को स्वीकार करते हैं।

योग वह मार्ग बताता है जिसके द्वारा मनुष्य 'चित्त' के बंधनों से मुक्त हो, अपने स्वरूप–सत्, चित्त आनन्द को जान सकता है, अनुभव कर सकता है। चित्त वृत्तियों के निरोध में मनुष्य को अपने–चेतनात्मक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। विवेक के उत्पन्न होने से चित्त नाना प्रकार के परिणामों से शून्य हो जाता है। कर्त्तापन का अभाव हो जाता है। वस्तुतः मनुष्य में, उसकी आत्मा में कोई विकार नही उत्पन्न होता लेकिन परिवर्तनशील चित्त वृत्तियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण उसमें–मनुष्य के स्वरूप में परिवर्तन ठीक उसी तरह दिखाई पड़ता है जिस तरह जल के हिलने से उसमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा हिलता प्रतीत होता है। मनुष्य चित्त के गुणों को अपना मानने लगता है और सुखी या दुःखी होता है। यही मनुष्य का बंधन है। मनुष्य को जब यह ज्ञान जो जाता है कि चित्त की वृत्तियॉ उसकी अपनी नही है तो उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है या दूसरे शब्दों में जब मनुष्य को योग के बतायें मार्ग से यह बोध हो जाता है कि चित्त वृत्तियाँ उसकी अपनी नही है तो उसे अपने स्वरूप का ज्ञान, अनुभव हो जाता है। इसीलिए योग को परिभाषित करते हुए पतंजलि कहते है कि ''योगश्चित्त्

वृत्तिनिरोध''।

योग द्वारा बताएँ गयें अष्टांग मार्ग–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि हमें, हमारे शरीर एवं मन को इस योग्य एवं सक्षम बनाते हैं जिससे चित्तवृत्तियों का निरोध जो जाये, उनका दमन न करना पड़े तथा हमें अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाय। समाधि की अवस्था में योगी को न केवल पूर्ण ज्ञान हो जाता है बल्कि वह अपने वास्तविक स्वरूप से भी परिचित हो जाता है और फिर उसे कोई दुःख, पीड़ा या क्लेश का भोग नही करना पड़ता है।

वेदान्त विशेषकर अद्वैत वेदान्त का आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त उपनिषदों के आत्म सम्बन्धी सिद्धान्त के समान है। शंकराचार्य ने आत्मा को एक तत्व एवं एकमात्र सत्ता माना है तथा इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है उसे वे अनात्मा मानते हैं। आत्मा ज्ञान स्वरूप है तथा सार्वभौम चैतन्य है। शंकर ने आत्मा को ब्रह्म की संज्ञा से अभिहित किया है। भले ही आत्मा एवं ब्रह्म नाम की दृष्टि से अलग–अलग है लेकिन दोनों में अभेद है, एक ही सत्ता ब्रह्म एवं आत्मा के रूप में अभिव्यक्त होते है। शंकर आत्मा एवं जीव में भेद करते है। आत्मा जब शरीर युक्त होती है तो उसे जीव में कहते है। आत्मा, जीव का आधारभूत चैतन्य है। सामान्यतः आत्मा में भोक्तृत्व एवं कर्तृत्व का अभाव होता है लेकिन उपाधियों के कारण (शरीर धारण करने के कारण) वह कर्त्ता एवं भोक्ता प्रतीत होती है। वस्तुतः आत्मा स्वयं प्रकाश, नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। वह पाप–पुण्य से परे है तथा न तो कर्मफल को और न ही दुःख, सुख भोगता है। वह आनन्द स्वरूप है।

अद्वैत वेदान्त के आत्मा सम्बन्धी विचार से स्पष्ट है कि वह भी मानव स्वरूप को प्रत्ययवादी दृष्टि से समझना चाहता है। इस दृष्टि से जब तक मनुष्य को आत्म साक्षात्कार नही हो जाता है तब तक वह अपने स्वरूप को नहीं जान पाता है। सत्, चित्त, आनन्द स्वरूप को अनुभूत करने पर ही मनुष्य स्वयं से परिचित होता है, मनुष्य के सभी कर्म सुख प्राप्त के हेतु होते है और सुख दो प्रकार के होते है; अनन्त सुख या आनन्द तथा सीमित या ऐंद्रिक सुख। मनुष्य जब लौकिक पदार्थो का उपभोग करता है तो उसे सीमित या ऐंद्रिक सुख प्राप्त होता है जिसे 'प्रेयस' की कोटि में रखा जाता है। यह सुख वस्तुतः अनन्तसुख या आनन्द का अपूर्ण रूप या प्रतिबिम्ब मात्र होता है। मनुष्य इसी आनन्द सुख की प्राप्ति हेतु भ्रमवश, अज्ञानता के कारण ऐंद्रिक सुख के पीछे भागता रहता है जैसे मृग के अन्दर से ही कस्तूरी की गंध निकलती है लेकिन वह इस गंध को खोजने बाहर दौड़ता रहता है, वह उस गंध को न पाकर बेचैन रहता है। ठीक वैसी ही स्थिति मनुष्य की है।

इन्द्रियों से प्राप्त सुख वस्तुतः आनन्द की छाया है लेकिन मनुष्य स्वभावतः आनन्द प्राप्त करना चाहता इसलिए वह अधिक से अधिक बाहर भागता है जिससे उसमें आनन्द मिल सके, लेकिन वह उसे वाह्य जगत, इन्द्रियानुभव में नही मिलता इसलिए उसके अन्दर एक तरह की बेचैनी, छटपटाहट उत्पन्न होती है। इस बेचैनी, छटपटाहट का कारण मनुष्य का अपने स्वरूप से परिचित न होना है जिससे उसके समस्त प्रयास विपरीत दिशा में मुड़ जाते हैं। चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब नदी के स्थिर जल में बनता है लेकिन यदि हम उस चन्द्रमा को पाने के लिए नदी में उतर जाय तो चन्द्रमा तो मिलता नही बल्कि उसका जो भी प्रतिबिम्ब वह दिखाई दे रहा था वह भी लुप्त हो जाता है। जितना ही हम नदी में प्रतिबिम्बत चन्द्रमा को पाने हेतु नदी की तरफ जायेंगे, उतनी ही असफलता एवं निराशा हमें मिलेगी। वास्तविक चन्द्रमा को पाने हेतु हमें 'उल्टी यात्रा' करनी पड़ेगी। ठीक वैसे ही आनन्द की खोज, स्वयं को जानने हेतु जितना ही हम बाहर, जगत, इन्द्रियों की तरफ जायेंगे उतना ही हम न केवल स्वयं को नही जान पायेंगे बल्कि जो थोड़ा बहुत 'सुख' हमें बाहर मिल सकता था, उससे भी वंचित रह जायेंगे।

दुःख का मूल द्वैत है जिसकी कोई औषधि नही हैं क्योंकि मूलतः हम एवं अस्तित्व दो नही है इसलिए किसी भी औषधि की आवश्यकता नही है। हम वियुक्त अलग–अलग नही है इसलिए जोड़ने के समस्त प्रयास से टूटन न होने पर भी टूटन का अहसास होता है। हम जुड़े है इसे केवल अनुभव करना है क्योंकि हम अस्तित्व से वियुक्त, अलग हो भी कैसे सकते है? हममें से न तो कोई परतंत्र है और न ही स्वतंत्र बल्कि वस्तुतः हम सबमे 'परस्पर–तंत्रता' है।

'परस्पर तंत्रता' शब्द ही मानव स्वभाव एवं अस्तित्व का वास्तविक बोध कराने में सक्षम है।

2.5 नास्तिक दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा

आस्तिक दर्शन के विपरीत नास्तिक दर्शन वेदों को प्रमाण के रूप में नहीं स्वीकार करते है। भारतीय परम्परा में नास्तिक दर्शन का अर्थ ईश्वर की सत्ता में अविश्वास नही होता

है। इसके अन्तर्गत चार्वाक, बौद्ध एवं जैन दर्शन को रखा जाता है।चार्वाक दर्शन एक भौतिकवादी दर्शन है जिसके अनुसार जड़ पदार्थ की ही सत्ता को स्वीकार किया गया है। इसी से जगत, प्राण, चेतना की उत्पत्ति की व्याख्या की गयी है। इसी परिप्रेक्ष्य में चार्वाक के अनुसार मानव स्वरूप को समझा जा सकता है।

मानव स्वरूप की वस्तुवादी धारणा के आधार पर चार्वाक के मानवस्वरूप सम्बन्धी विचारों को समझा जा सकता है। मानव स्वरूप सम्बन्धी चार्वाक के मत को 'शरीरात्मवाद' कहा जा सकता है जिसके अनुसार ''मनुष्य चेतना से युक्त शरीर मात्र है।'' चार्वाक प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानते है इसलिए वे चेतना के अस्तित्व को तो स्वीकार करते है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष होता है लेकिन किसी सार्वभौम चेतना या आत्मा को स्वीकार नही करते क्योंकि वह हमारे प्रत्यक्ष का विषय नही होता है।

चार्वाक के अनुसार मानव शरीर एवं ज्ञानेन्द्रियों चार तत्त्वों–पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु के योग से बनी है। इन्हीं भौतिक तत्वों में चेतना की उत्पत्ति होती है और इसी से शरीर में सक्रियता एवं निष्क्रियता उत्पन्न होती है। चार्वाक ने शरीर को ही आत्मा अर्थात् मानव स्वरूप के रूप में समझा है क्योंकि उनके अनुसार ''मै मोटा हूँ'', ''मैं पतला हूँ'', ''मैं गोरा या काला हूँ'' जैसे कथनों से यही सिद्ध होता है कि मनुष्य जिसे 'मैं' कहते है वह शरीर ही है क्योंकि मोटा, पतला, गोरा या काला होना शरीर के धर्म है। शरीर के सन्दर्भ में मानव स्वरूप को समझने के कारण चार्वाक की मूल्य की अवधारणा भी शरीर के संदर्भ में ही समझी जा सकती है। उनकी दृष्टि शरीर को, इन्द्रियों को जो सुखकारी हो वही, कल्याणकारी है। चार्वाक की दृष्टि में 'प्रेयस' ऐंद्रिक सुख को प्राप्त करना ही मानव के लिए उचित एवं शुभ है।

जैन दर्शन चार्वाक के इस मत को स्वीकार नहीं करते है कि शरीर ही आत्मा या वास्तविक मनुष्य है। वे शरीर एवं आत्मा दोनों के भेद को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं और चार्वाक द्वारा प्रतिपादित शरीर एवं चेतना की एकता का निषेध करते है। जैन दर्शन चार्वाक के विपरीत आत्मा के अस्तित्व मानते है और इसी के आधार उनके मानव स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है।

जैन दर्शन गुणों जैसे चेतना, सुख, स्मृति, संदेह आदि के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते है और कहते है कि शरीर भी एक मशीन है और जिस प्रकार किसी भी मशीन को चलाने के लिए एक चालक की आवश्यकता होती है ठीक

वैसे ही शरीर रूपी मशीन के संचालन हेतु भी हेतु कोई न कोई चालक होना चाहिए और इसी चालक को वे आत्मा के रूप में मानते है क्योंकि जब तक यह चालक शरीर से युक्त रहता है तब तक वह क्रिया करता रहता है। इतना ही नहीं हमें विभिन्न विषयों का ज्ञान भी होता है। प्रश्न यह है कि यह ज्ञान कौन प्राप्त करता है। क्या इन्द्रियाँ स्वयं ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है? क्या वस्तुतः आखें देखती है या कान सुनता है आदि? स्पष्ट है कि ज्ञान में इन्द्रियों का निश्चित ही योगदान है। जैन दर्शन मानता है कि 'जीव' की सभी क्रियाएँ उसके द्वारा किये गये कर्मो के परिणाम है। वस्तुतः 'जीव' अपने स्वभाव से, शुद्ध दृष्टि से 'अनन्त दर्शन' एवं 'अनन्त सामर्थ्य' आदि गुणों से युक्त होता है जिसकी अभिव्यक्ति उसके 'आवरणीय कर्मो' के प्रभाव के कारण नही होती है। जैन दर्शन जीव में दो ही मुख्य गुणों 'चेतना' या 'अनुभूति' तथा उपयोग (चेतना के फल) को स्वीकार करता है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार मानव स्वरूप को समझने के लिए उनके आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त–जिसे प्रायः अनात्मवाद के रूप में अभिहित किया जाता है, की विवेचना की जा सकती है। बौद्ध दर्शन के ऊपर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि वे 'आत्मा' का निषेध करते है। इस सम्बन्ध में यह कहना अयुक्तिपूर्ण न होगा कि बुद्ध ने आत्मा (या ईश्वर को भी) किसी वस्तु, स्थिति, घटना के रूप में समझने का निषेध किया है क्योंकि वस्तुतः आत्मा (या ईश्वर भी) किसी वस्तु, स्थिति या घटना के समान नही है बल्कि यह वे प्रत्यय है जो मनुष्य के वास्तविक स्वभाव को समझने में सहायक है। यदि हम आत्मा को किसी ऐसी 'वस्तु' के रूप में समझते है जो हमारे शरीर में उसी तरह निवास करती है जैसे कि हमारे शरीर में अन्य इन्द्रियाँ या अन्य अंग है तो निश्चित ही बुद्ध ने इसका सशक्त रूप से खण्डन किया है।

बुद्ध किसी नित्य, अविनाशी आत्मा की सत्ता का निषेध करते है और कहते है कि ऐसी आत्मा में विश्वास करना भ्रम है। 'व्यक्ति' की सत्ता बुद्ध ने निश्चित ही स्वीकार की है लेकिन उसे पाँच स्कन्धों–रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान का संघात् माना है। इन्हें क्रमशः शरीर, अनुभूति प्रत्यक्ष, इच्छा एवं विचार के रूप में भी समझा जा सकता है। यह सभी पाँच स्कन्ध क्षणिक एवं परिवर्तनशील है। बुद्ध दर्शन के अधिकांश विद्वानों ने, इस आधार पर कि सभी स्कन्ध क्षणिक एवं परिवर्तनशील है और आत्मा इन्हीं का संघात् है, यह मान लिया कि बुद्ध के अनुसार आत्मा भी क्षणिक एवं परिवर्तनशील है। वस्तुतः ऐसा नही है।

बुद्ध का मानना था कि यदि किसी व्यक्ति को तीर लगा है और सहायता के पूर्व यह जानने को हठ करें कि तीर कहाँ से आया, किसने और क्यों चलाया, यह किस धातु का बना है तो यह जानकारी प्राप्त होते होते वह मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा और यह ज्ञान उसके किसी काम नहीं आयेगा। इसी प्रकार इस चराचर जगत में सभी मनुष्य दुःखी है, पीड़ित है इसलिए किसी भी तत्वमीमांसीय विवेचना के स्थान पर

सर्वप्रथम उनके दु:ख के कारण की विवेचना करके उन्हें उससे मुक्त होने का मार्ग बताना अत्यन्त आवश्यक है, और यह तभी सम्भव है जब हम किसी शाश्वत् स्थायी आत्मा की, वस्तुओं के समान सत्ता, का निषेध करें। हमें जीवन एवं मनुष्य की विवेचना ठीक उसी प्रकार से करनी है जैसी कि वे वास्तव में है, न कि किसी प्रत्ययवादी विचार धारा के अनुरूप क्योंकि इससे समस्याओं के विकृत विवेचन से इंकार नहीं किया जा सकता है।

यदि हम बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट अवटांगिक मार्ग का अनुसरण करते है तो हमारे व्यवहार में 'अहिंसा, करूणा का आविर्भाव सहज ही होगा, हमें इसके लिए सचेतन प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी।

2.6 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, अवस्थाएँ भी मानव स्वरूप के बारे में महत्वपूर्ण संकेत देती है लेकिन यह सब परिधिगत सूचनाएँ ही दे सकती है। यह तीनों अवस्थाएँ मनुष्य से सम्बन्धित एवं सम्बोधित अवस्थाएँ है लेकिन अंतिम तुरीय अवस्था वह मूल, अधिष्ठान, केन्द्र है जिसके नाते शेष तीनों अवस्थाएँ सम्भव होती है। मानव स्वरूप को समझने हेतु जहाँ जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाएँ सामग्री उपलब्ध कराती है वही तुरीय अवस्था इन्हें अर्थ प्रदान करती है। भारतीय दृष्टि में ज्ञान न केवल एक क्षैतिज प्रक्रिया है जो हमें अधिकाधिक तथ्यों से परिचित कराती है बल्कि वह ऊर्ध्वाधर प्रक्रिया भी है जिससे आत्मरूपान्तरण, आत्म परिचय, स्वानुभूति में सहायता प्राप्त होती है। किसी भी परिधि को उसका अर्थ उसके केन्द्र से ही प्राप्त होता है इसी प्रकार तथ्यों को अर्थ विचार ही देते है। तुरीय अवस्था ही जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति को अर्थ दे सकती है। यही उसका–मानव का स्वभाव, स्वरूप होता है। सामान्य भौतिक पदार्थो जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि आदि भी इसी आधार पर स्वधर्म चुक्त माने गये हैं : 'रूप रस गन्ध स्पर्शवती पृथिवी।

रूपरस स्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धा।

तेजो रूप स्पर्शवत्।।'' (कणादसूत्र 2.1.1.2 एवं 3)

समस्त आस्तिक दर्शनों में जिस प्रकार मानव स्वरूप को समझने का प्रयास हुआ है, वह थोड़े–बहुत अन्तर के साथ वेद एवं उपनिषद में व्यक्त विवेचना के समान है। न्याय दर्शन मानव स्वरूप की विवेचना हेतु 12 प्रमेयों का सहारा लेता है, ठीक वैसे ही वैशेषिक दर्शन सात पदार्थो के परिप्रेक्ष्य में मानव स्वरूप की विवेचना करता है। मीमांसा दर्शन में प्रभाकर एवं कुमारिल ने मानव स्वरूप को व्याख्यायित करने में अपने–अपने ज्ञान सिद्धान्त का सहारा लेते है। वेदान्त विशेषकर अद्वैत वेदान्त की मानव स्वरूप की

विवेचना उपनिषदों में वर्णित मानवस्वरूप की व्याख्या से काफी सीमा तक मिलती है। अद्वैत वेदान्त द्वारा स्वीकृत मानव स्वरूप की अवधारणा की ही श्रेणी में रखी जा सकती है। नास्तिक दर्शन में चार्वाक ने मनुष्य को उसके शरीर द्वारा ही समझने का प्रयास किया है। दूसरे नास्तिक दर्शन जैन चार्वाक के मानव स्वरूप सम्बन्धी विचार का खण्डन करते है। जैन दर्शन शरीर एवं चेतना के अन्तर को समझते है तथा चेतना को शरीर का गुण नही मानते है।

2.7 पारिभाषिक शब्द

दर्शन : यह शब्द प्रायः भारतीय चिंतन के लिए प्रयुक्त होता है। इस शब्द की व्याख्या दो रूपों में की जा सकती है। प्रथम अर्थ 'दृष्टि' है अर्थात् दर्शन शास्त्र सम्पूर्ण सत्ता का दर्शन है। वहीं दूसरा अर्थ इसके उत्पत्ति के आधार पर किया जाता है। दर्शन की उत्पत्ति 'दृश' धातु से हुई है जिसका अर्थ 'देखना' है। जिसे 'अन्तर्दृष्टिजन्य अनुभव' भी कहा जा सकता है। इसी से व्यावहारिकता भारतीय दर्शन का प्रभावी तत्त्व है। भारतीय चिंतन जीवन एवं जगत के अनुभूति की विवेचना इस दृष्टि से करते है जिससे अभ्युदय के साथ निःश्रेयस की प्राप्ति हो सके।

- फिलॉसफी : ये पाश्चात्य चिंतन के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द है, जो दो शब्दों फिलॉस एवं सोफिया से मिलकर बना है। इसे ज्ञान के अनुराग के अर्थ में लिया जाता है। स्पष्ट है कि पाश्चात्य दृष्टि में दर्शन मात्र सैद्धान्तिक दृष्टि से ज्ञान के प्रति प्रेम है; जिसमें एक तरह से व्यवहारिकता का अभाव है।
- प्रमाण : जिन उपयों से वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती है उन्हें प्रमाण कहते है।
- प्रमेय : प्रमाण द्वारा जिन विषयों का ज्ञान होता है उन्हें प्रमेय कहा जाता है। न्याय दर्शन में 12 प्रमेयों का उल्लेख है।

2.7 अभ्यास हेतु प्रश्न

i. 'फिलासफी' शब्द का अर्थ है :

(अ) प्रेम

(ब) ज्ञान

(स) ज्ञान का प्रेम

(द) प्रेम का ज्ञान

ii. दर्शन एवं फिलासफी है :

(अ) समानार्थी शब्द

(ब) विपरीतार्थक शब्द

(स) दो प्रकार की जीवन दृष्टियाँ

(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

iii. वेद का अर्थ है :

(अ) एक पुस्तक

(ब) ज्ञान

(स) अज्ञान

(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

iv. वाणी की कितनी अवस्थाएँ है :

(अ) 4

(ब) 2

(स) 3

(द) 1

v. निम्नलिखित में कौन आस्तिक दर्शन नही है?

(अ) जैन दर्शन

(ब) बौद्ध दर्शन

(स) चार्वाक दर्शन

(द) उपर्युक्त सभी

vi. अक्षपाद दर्शन है :

(अ) मीमांसा दर्शन

(ब) अक्ष दर्शन

(स) न्याय दर्शन

(द) उपनिषद दर्शन

vii. न्याय दर्शन द्वारा स्वीकृत प्रमेय है :

(अ) 9

(ब) 10

(स) 11

(द) 12

viii. ''प्रमेयों का ज्ञान दर्शन द्वारा स्वीकृत प्रमाणों से प्राप्त होता है।'' यह कथन :

(अ) सत्य

(ब) असत्य

(स) उपर्युक्त दोनों है।

(द) उपर्युक्त कोई नहीं है।

ix. शरीर से ही व्यक्ति को सुख–दुःख की प्राप्ति होती है इसलिए इसे क्या कहा जाता है?

(अ) इन्द्रियायतन

(ब) भोगायतन

(स) मनायतन

(द) उपर्युक्त कोई नही।

x. कणाद किस दर्शन के जनक है?

(अ) न्याय

(ब) मीमांसा

(स) वैशेषिक

(द) चार्वाक

xi. औलूक्य दर्शन है :

(अ) मीमांसा दर्शन

(ब) वैशेषिक दर्शन

(स) सांख्य दर्शन

(द) वेदान्त दर्शन

इकाई – 3 मानव स्वरूप (पाश्चात्य दृष्टि) ग्रीक दर्शन, आधुनिक दर्शन, विशेषतः– काण्ट, हीगल, मार्क्स, सार्त्र के परिप्रेक्ष्य में

इकाई की रूपरेखा :

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 मानव स्वरूप (पाश्चात्य दृष्टि)
3.4. ग्रीक दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा
3.4.1 प्लेटो के अनुसार मानव स्वरूप की अवधारणा
3.4.2 अरस्तू के अनुसार मानव स्वरूप की अवधारणा
3.4.3 एक्विनास के अनुसार मानव स्वरूप की अवधारणा
3.5 आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा
3.5.1 बुद्धिवाद विशेषकर डेकार्ट के दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा
3.5.2 अनुभववाद विशेषकर ह्यूम के दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा
3.5.2.1 कांट के दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा
3.5.2.2 हीगल के दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा
3.5.2.3 मार्क्स के दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा
3.5.2.4 सार्त्र के दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा
3.6 सारांश
3.7 पारिभाषिक शब्द
3.8 अभ्यास हेतु प्रश्न

3.1 प्रस्तावना :

पिछली इकाई में हमने जाना कि भारतीय दृष्टि किस रूप में मानव स्वरूप को समझती है। वेद, उपनिषद, आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों के परिप्रेक्ष्य मे मानव स्वरूप की विवेचना के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि पश्चिमी दृष्टि मानव स्वरूप को किस प्रकार समझती है। वर्तमान इकाई में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि पाश्चात्य चिंतन में मनुष्य को किस तरह से समझने का प्रयास हुआ है।

3.2 उद्देश्य :

इस इकाई का उद्देश्य पश्चिमी चिंतन में मानव स्वरूप की विवेचना करना है। पश्चिम में दर्शन को 'फिलासफी' शब्द जिसका अर्थ 'ज्ञान का अनुराग' होता है, के द्वारा अभिहित किया जाता है। पश्चिमी चिंतन का प्रारम्भ ग्रीक दर्शन से हुआ हैं इसलिए हम प्रमुख ग्रीक दार्शनिकों के अनुसार मानव स्वरूप को समझने का प्रयास करेंगे। उसके बाद सीधे आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के कतिपय दार्शनिकों के मानव स्वरूप सम्बन्धी विचारों को जानने का प्रयास करेंगे।

3.3 पाश्चात्य दृष्टि से मानव स्वरूप :

हमने पिछली इकाईयों में यह स्पष्ट करने का प्रयास हुआ है कि 'दर्शन' एवं 'फिलासफी' मात्र दो शब्द नही हैं बल्कि दो प्रकार की जीवन दृष्टियाँ है जिसने उनके चिंतन के प्रत्येक आयाम को प्रभावित किया है। 'फिलासफी' जो पाश्चात्य दृष्टि का द्योतक है वह जीवन एवं जगत को समझने हेतु 'अन्दर से बाहर' की यात्रा करता है ।

3.4 ग्रीक दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा :

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन एवं आधुनिक विज्ञान की नींव छठी शताब्दी ईसा पूर्व में ग्रीक में रखी गयी थी। सम्भवतः प्रथम दार्शनिकों ने विविधता से पूर्ण एवं परिवर्तनीय जगत के पीछे की वास्तविकता को जानने का प्रयास किया होगा और इस निष्कर्ष पर पहुँचे होंगे कि सब कुछ जल, वायु या अग्नि या इन तीनों के संयोग से निर्मित हुआ है दूसरे शब्दों में उन्होंने इन्हें उस तत्त्व के रूप में स्वीकार किया होगा जिससे इस चराचर सृष्टि का निर्माण हुआ है। स्पष्ट है कि वे जगत के उस स्वरूप से संतुष्ट नहीं थे और यह मानते थे कि जीवन एवं जगत का वास्तविक स्वरूप कुछ और है अर्थात् जीवन एवं जगत जिस रूप में हमें अनुभूत होता है, वस्तुतः अपने स्वरूप वह इससे भिन्न है। इसीलिए उन्होंने मनुष्य के उस स्वरूप को जानने का प्रयत्न किया जो उसके

व्यावहारिक स्वरूप, भौतिक स्वरूप के पीछे छिपा है। मानव जीवन को सम्भव बनाने वाली 'आत्मा' को इसीलिए प्राण, वायु या अग्नि के रूप में स्वीकार किया गया। इस स्वीकृति के बाद भी इन दार्शनिकों को ''भौतिकवादी नही कहा जा सकता है, यद्यपि वे यही मानते थे कि जो भी भौतिक है, उसी की सत्ता होती है।

3.4.1. प्लेटो के अनुसार मानव स्वरूप की अवधारणा–

प्लेटो ने सुकरात पूर्व दार्शनिकों के 'स्थिरता' एवं 'स्थायित्व' प्रत्ययों को समझने का प्रयास किया, लेकिन वे इस बात से भी भलीभॉति परिचित थे कि भौतिक वस्तुओं के परिवर्तनशील जगत में इसकी खोज नहीं की जा सकती है। अपने पूर्ववर्ती भौतिकवादी दार्शनिकों के विचारों से सहमत न होते हुए वे 'अन्य जगत' की विवेचना करने को विवश हुए, जो उनके निर्णयों हेतु कसौटी उपलब्ध करा सके क्योंकि इससे नैतिक एवं गणितीय प्रत्ययों को समझने में विशेष रूप से सहायता मिल सकती थी। प्लेटो यह मानते थे कि हम दो छड़ियों को अन्य जगत में अस्तित्ववान समानता के निरपेक्ष कसौटी के आधार पर एक ही लम्बाई का मानते है। इसी तरह से नैतिक मानदण्ड भी आनुभविक जगत से परे जगत से प्राप्त होते है।

प्लेटो के अनुसार आत्मा (मन) के तीन अंश–(अ) 'बुद्धि (ब) शारीरिक प्रवृत्तियाँ तथा (स) संकल्प' के द्वारा ही मानव स्वरूप को समझा जा सकता है। बुद्धि न केवल पूरे आत्मा का ध्यान रखती है अपितु शारीरिक प्रवृत्तियों एवं संकल्प को नियंत्रित करने का भी कार्य करती है। मनुष्य के पास बुद्धि की आवश्यकताओं के साथ–साथ भूख, प्यास एवं काम जैसी शारीरिक इच्छाएँ तथा क्रोध, प्रेम, महत्वाकांक्षा, हिंसा आदि जैसी भावनाएँ भी होती है। फीड्स में प्लेटो ने आत्मा के तीन अंशों की तुलना एक ऐसे चरित्र से की है, जो दो भिन्न प्रवृत्ति के घोड़ों को नियंत्रित करने का प्रयास करता है, इनमें से एक घोड़ा अपेक्षाकृत भला है और आसानी से मान जाने वाला है जबकि दूसरा चाबुक इत्यादि दिखाने पर भी आसानी से नियंत्रण में नही आता है। प्लेटो ने बुद्धि की तुलना एक ऐसे सारथी से किया है जिसे दोनों घोड़ों विशेषकर उसे जो शारीरिक आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करता है, को नियंत्रण में रखने का दुष्कर कार्य करना है। प्लेटो का यह विश्वास था कि मानव स्वरूप को व्यक्त वाने तीनों अंशों में भले हम बुद्धि को शेष दोनों से श्रेष्ठ एवं ऊपर स्वीकार करें लेकिन शेष दोनों अंश भी मनुष्य के स्वरूप को समझने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते है। बुद्धि रूपी सारथी शारीरिक आवश्यकताओं एवं भावनाओं रूपी घोड़ों को खुला नही छोड़ सकता बल्कि इसे उन्हें निर्देशित करना चाहिए।

वास्तव में बुद्धि को आत्मा के शेष दोनों अंशों से समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित करने का कार्य करना चाहिए।

3.4..2 अरस्तू के अनुसार मानव स्वरूप की अवधारणा–

अरस्तू के समय की स्थितियाँ भी प्लेटो के ही समान थी। प्लेटो जगत की क्षणभंगुरता एवं परिवर्तनशीलता की समस्या से ग्रस्त थे। अरस्तू ने इस समस्या के समाधान के लिए परिवर्तन के विषय और उस तरीके जिससे परिवर्तन के बाद भी वस्तु वही रहती है, में सावधानीपूर्वक अन्तर स्थापित किया। अरस्तू ने अपने व्यावहारिक दृष्टि के कारण इस बात का निषेध किया कि 'आकार', सत्ता के किसी उच्च आयाम में विद्यमान है। उन्होंने 'आकारो' को इसी जगत में अस्तित्ववान माना। सोने के विभिन्न आभूषणों का आकार उन्हीं आभूषणों में निहित होता है क्योंकि आकार वास्तव वह ढंग है जिससे किसी वस्तु को कोई संरचना प्राप्त होती है। सोने के किसी आभूषण का आकार उस आभूषण की सत्ता का उत्तरदायी होता है क्योंकि आकारों के बिना वह मात्र सोने का एक अनगढ़ टुकड़ा होगा, न कि आभूषण। यद्यपि उपादान के रूप में सोना स्वयं में पहले से ही किसी न किसी आकार से युक्त होता है। यही स्थिति प्रायः किसी भी भौतिक उपादान के लिए स्वीकार की जा सकती है लेकिन सिद्धान्तः हमें ऐसे मूल पदार्थ को स्वीकार करना पड़ेगा जो किसी भी प्रकार की संरचना से रहित है। अरस्तू के अनुसार हम जो कुछ भी प्रत्यक्ष करते है उसमें उपादान एवं आकार अनिवार्यतः सम्मिलित होते है।

3.4.3 एक्विनास के दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा–

सच्चे ईसाई के रूप में एक्विनास को अरस्तू के समान यह स्वीकार करने में कठिनाई थी कि सृष्टि का कोई प्रारम्भ नही है। वे यह भी स्वीकार नही करते थे कि दर्शन शून्य से सृष्टि के उत्पत्ति की व्याख्या कर सकता है बल्कि उनके अनुसार इसे ईश्वरीय कृपा से ही समझा जा सकता है। इसीलिए उनके अनुसार ईश्वर ने ही सृष्टि की रचना की है। एक्विनास के अनुसार जगत एवं प्राणियों का प्रयोजन उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों एवं झुकावों से निर्धारित नही किया जा सकता है बल्कि इसे ईश्वर की इच्छा एवं कृपा के आधार पर ही जगत–विशेष रूप से मानवता के प्रयोजन को समझा जा सकता हें। किसी भी सत्ता की प्रवृत्तियाँ एवं झुकाव अपने–आप में प्रासंगिक नही हैं क्योंकि यह ईश्वर प्रदत्त है इसलिए जगत (एवं मनुष्य का भी) का मूल्यांकन ईश्वर द्वारा बनाए गये शाश्वत् निकषों के आधार पर ही हो सकता है। इस बिन्दु पर एक्विनास के विचार अरस्तू की अपेक्षा प्लेटो से प्रभावित दिखाई देते है।

एक्विनास के अनुसार प्रत्येक प्राणी के जीवन का लक्ष्य ईश्वर के दिव्य एवं अलौकिक स्वरूप को जानना है लेकिन यह व्यक्ति के वर्तमान जीवन में यह सम्भव नही है। एक्विनास यह मानते थे कि 'किसी भी वस्तु के स्वभाव का बोध उसकी क्रियाशीलता से ही होता है' और मनुष्य की क्रियाशीलता का आधार उसकी 'बुद्धि है। बुद्धि ही वह

बिन्दु है जो उसे न केवल अन्य प्राणियों से अलग करती है बल्कि इसी के द्वारा उसके स्वभाव का भी पता चलता है। 'बुद्धि' को अपनी परिपूर्णता ईश्वर के ज्ञान में प्राप्त होती हैं और तभी मनुष्य को आनन्द की प्राप्ति होती है। एक्विनास ईश्वर के ज्ञान एवं प्रेम में भेद नहीं करते है।

3.5 आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में मानव स्वरूप की अवधारणा–

मध्ययुगीन पाश्चात्य दर्शन के ऊपर धर्म ईसाई धर्म का व्यापक प्रभाव था। इस युग में दार्शनिकों का प्रमुख कार्य ईसाई धर्म की मान्यताओं के औचित्य को स्थापित करना था, जिसके लिए प्रायः ग्रीक दर्शन विशेष रूप में प्लेटो एवं अरस्तू के विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी जिससे ईसाई धर्म की मान्यताओं हेतु तर्क दिये जा सकें।

3.5.1 बुद्धिवाद के अनुसार मानव स्वरूप की विवेचना

बुद्धिवाद वह दार्शनिक परम्परा है जो बुद्धि को ही ज्ञान का स्रोत एवं प्रमाण मानती है। इसीलिए इनकी मजबूरी थी कि वे 'जन्मताज प्रत्यय' की सत्ता को माने क्योंकि ज्ञान का स्रोत 'बुद्धि' है और बुद्धि में प्रत्यय ही पाये जाते है। इतना ही नही बुद्धिवादी मानवीय ज्ञान को विश्लेषणात्मक एवं प्रागनुभविक भी मानते है।

डेकार्ट जिन्हें आधुनिक दर्शन का पिता भी कहा जाता है, ने संदेह पद्धति के द्वारा 'चेतना' की स्वतंत्र सत्ता के रूप में दर्शन को एक ऐसा सुदृढ़ आधार उपलब्ध कराया जिस पर उनके बाद के दार्शनिकों ने दर्शन को भव्य महल का निर्माण किया।

डेकार्ट ने शुरू से शुरू करते हुए, यह जानने का प्रयास किया कि मानवीय ज्ञान में क्या कुछ ऐसा भी है जिस पर किसी भी प्रकार से संदेह न किया जा सके? असंदिग्ध की खोज हेतु उन्होंने संदेह पद्धति का सहारा लेते हुए मानव द्वारा प्राप्त समस्त ज्ञान यहाँ तक कि गणित एवं ज्यामिति तथा ईश्वर की सत्ता के ज्ञान पर भी संदेह किया और इस हेतु उन्होंने प्रमुख रूप से 'स्वप्न के तर्क' ;क्तमंउपदह ।तहनउमदजद्ध तथा ''धोखा देने वाली सत्ता के तर्क' ;क्मबमपअपदह ।तहनउमदजद्ध का सहारा लिया। डेकार्ट जगत की समस्त सत्ताओं पर संदेह करने और उनका निषेध करने में सफल रहे लेकिन उनके लिए उस ''सत्ता'' पर करना कठिन प्रतीत हुआ जो 'संदेह की क्रिया' कर रही है। डेकार्ट कहते है कि 'संदेह की क्रिया' ही 'संदेहकर्त्ता' के अस्तित्व को असंदिग्ध बना देती है। उनका प्रसिद्ध कथन ''मैं सोचता हूँ इसलिए मैं ''हूँ'' इसी को व्यक्त करता है। अपनी इस घोषणा के माध्यम से डेकार्ट 'चेतना' की सत्ता को स्वयंसिद्ध, असंदिग्ध स्वीकार किया है।

3.5.2 अनुभववाद के अनुसार मानव स्वरूप की अवधारणा

बुद्धिवाद के विपरीत अनुभववाद, अनुभव को ही ज्ञान का स्रोत एवं प्रमाण मानता है। अनुभववाद इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त ज्ञान पर ही विश्वास करता है इसलिए स्वाभाविक है कि वह किसी ऐसी सत्ता में विश्वास कर ही नही सकता है जो हमारे इन्द्रियानुभूति का विषय न हो। इसी से अनुभववाद के शिखर दार्शनिक ह्यूम किसी भी प्रकार की 'आत्मा' की सत्ता का निषेध करते है। इतना ही नहीं उन्होंने ईश्वर एवं कारणता के सिद्धान्त का भी खंडन अनुभववाद की दृष्टि से किया। ह्यूम ने अपने पूर्ववर्ती अनुभववादी दार्शनिकों लाक एवं बर्कले को असंगत अनुभववादी कहा क्योंकि दोनों अनुभववाद की मौलिक स्थापनाओं से इतर जाते हुए निष्कर्ष प्रतिपादित कर देते है।

अनुभववाद की स्थापनाओं के प्रति तार्किक रूप में संगत रहते हुए ह्यूम मानव स्वरूप की विवेचना के लिए 'आत्मा' का सहारा नहीं लेते है। उनके अनुसार यदि आत्मा नाम की कोई सत्ता जगत में है तो उसका हमें ज्ञान होना चाहिए। ह्यूम के अनुसार किसी भी वस्तु का ज्ञान हमें दो ही तरीकों—'बुद्धि' या 'अनुभव' से ही प्राप्त हो सकता है। तीसरा कोई विकल्प हमारे समक्ष उपलब्ध नही है।

बुद्धि द्वारा हम आत्मा का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि इसका ज्ञान 'विज्ञानों के परस्पर सम्बन्ध' का ज्ञान नही है बल्कि वस्तुजगत से सम्बन्धित ज्ञान है और बुद्धि, वस्तुजगत के बारे में ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती है। तो फिर क्या आत्मा का ज्ञान अनुभव द्वारा प्राप्त हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर भी ह्यूम 'नहीं' में ही देते है। ह्यूम कहते है कि साधारण व्यक्तियों से लेकर अधिकांश दार्शनिकों का मत है कि आत्मा एक 'कूटस्थ एवं नित्य द्रव्य' है जो समस्त परिवर्तनों के मध्य 'अपरिणामी, अपरिवर्तनीय' तत्व के रूप में विद्यमान रहता है। उनके अनुसार संस्कारों एवं विज्ञानों की एक क्षणिक संस्कारों एवं विज्ञानों को देखने वाला, द्रष्टा निरन्तर विद्यमान रहता है। तथाकथित 'आत्मा' के विषय में अन्य विचारधारा का भी वे उल्लेख करते है जिसके अनुसार यह (आत्मा) उनका (संस्कारों एवं विज्ञानों का) अधिष्ठान, आधार है। ह्यूम इन सभी का निषेध करते है।

3.5.3 कांट के अनुसार मानव स्वरूप की अवधारणा—

कांट के सम्मुख सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न व ज्ञान के स्रोत, सीमा एवं बैधता को लेकर था। कांट ने बुद्धिवाद एवं अनुभववाद दोनों को ही अनालोचात्मक दर्शन की श्रेणी में रखा क्योंकि दोनो ही अपने चिंतन के पूर्व अपनी ज्ञानमीमांसीय स्थापनाओं का परीक्षण नही करते बल्कि अपने—अपने विश्वास के आधार पर यह घोषित कर देते है कि केवल

बुद्धि या केवल अनुभव ही ज्ञान के स्रोत एवं प्रमाण है। इसी के कारण कांट के अनुसार बुद्धिवाद की परिणति रूढ़िवाद एवं अनुभववाद की परिणति संदेहवाद में हो जाती है। कांट ने बुद्धिवाद एवं अनुभववाद की स्थापनाओं का सम्यक् विवेचन किया और कहा कि दोनों ही एकांगी है क्योंकि मानवीय ज्ञान का स्रोत बुद्धि के स्थान पर अनुभव होता है और ज्ञान का प्रमाण अनुभव के स्थान पर बुद्धि होती है। उनके अनुसार मानवीय ज्ञान 'संश्लेषणात्मक एवं प्रागनुभविक' होता है अर्थात् इसमें नवीनता के साथ अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता भी पायी जाती है।

मानवीय ज्ञान की विवेचना करते हुए कांट कहते है कि मानवीय ज्ञान के दो स्रोत–संवेदना एवं तर्क बुद्धि होते है। संवेदना द्वारा वस्तुएँ हमें प्रदत्त होती है तथा तर्क बुद्धि के द्वारा वे सोची जाती है। कांट मानवीय ज्ञान की प्रागनुभविक पूर्ववर्ती शर्तो को जानना चाहते है। संवेदन शक्ति की विवेचना करते हुए वे कहते है कि देश एवं काल इसके प्रागनुभविक आकार है। देश एवं काल वे पूर्ववर्ती शर्ते है जिसमें हमें वस्तुएँ प्रदत्त होती है और देश एवं काल के आकारों में ढलकर वे उनके धर्मो से युक्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में इंद्रिय प्रदत्त संवेदना के लिए उपादान होते है जो देश एवं काल के आकारों में ढलकर बुद्धि हेतु उपादान उपलब्ध कराते है। इन्हीं उपादानों को बुद्धि अपने प्रागनुभविक आकारों–12 कोटियों द्वारा संश्लेषित एवं अर्थवान बनाती है।

3.5.4 हीगल के अनुसार मानव स्वरूप का अवधारणा

हीगल एक प्रत्ययवादी दार्शनिक है जो निरपेक्ष आत्मा की सत्ता स्वीकार करते है तथा वैयक्तिक आत्माओं, मनुष्यों को इसी सार्वभौम निरपेक्ष आत्मा का अभिव्यक्ति मात्र मानते है। उनके अनुसार निरपेक्ष सत्, अमूर्त निरपेक्ष पहले अचेतन प्रकृति के रूप में व्यक्त होता है और पुनः सामाजिक संस्थाओं, कला, धर्म और दर्शन द्वारा द्वंद्वात्मक प्रक्रिया से विकसित होते हुए मनुष्य में 'आत्म–चैतन्य' के रूप में अभिव्यक्त होता है।

हीगल के अनुसार सत्, विचार की वह अवस्था है जो अभिव्यक्त हो चुकी है तथा जो कुछ अभिव्यक्त हो चुका है वह विचार का विकास है'' ;|सस इमपदह पे जीवनहीज तमंसपेमक ंदक ंसस इमबवउपदह ं कमअमसवचउमदज वि जीवनहीजद्ध हीगल के इस कथन के अनुसार :

- निरपेक्ष चैतन्य जहाँ एक ओर वस्तुओं को उत्पन्न करता है वहीं दूसरी ओर प्रत्ययों और विज्ञानों को भी विकसित करता है। फलस्वरूप एक तरफ वस्तु जगत की उत्पत्ति होती है तो दूसरी तरफ विचारों, विज्ञानों के जगत की उत्पत्ति होती है। दर्शन इन दोनों के मध्य केवल सम्बन्ध ही नही स्थापित करता बल्कि

उन्हें सुसंगठित कर एक तंत्र के रूप में भी प्रस्तुत करता है। दर्शन यह भी जानने का प्रयास करता है कि 'मूल्यों' के क्रम में किसी वस्तु या विचार का क्या स्थान है? अर्थात् उनकी प्रयोजनमूलक विवेचना करता है।

- यदि संसार की समस्त वस्तुएँ चेतना की ही अभिव्यक्तियाँ हैं तो चेतना एवं सत्ता में कोई आत्यन्तिक अन्तर नही हैं। हीगल का कथन ''सत् बोधमय है एवं बोध सत् है'' इसी की अभिव्यक्ति है।
- जगत की वस्तुएँ चेतना के विकास के परिणाम है तो दर्शन एक प्रकार का विकासवाद है। संसार की प्रत्येक वस्तु बोध या विज्ञान के समान है। दर्शन इसी बोध के विभिन्न रूपों एवं वस्तुओं के विकास का सुव्यवस्थित अध्ययन करता है जिसकी परिणति निरपेक्ष प्रत्ययवाद में होती है जहाँ सत्ता एवं बोध में तादात्म्य का सम्बन्ध है।

3.5.5 मार्क्स के अनुसार मानव स्वरूप की अवधारणा

मार्क्स कहते हैं कि हीगल ने मानव स्वरूप–मनुष्य को आत्म–चेतना के समतुल्य माना, इसीलिए उनके चिन्तन में मनुष्य को 'आत्म–चेतन मनुष्य' माना गया है न कि 'आत्म चेतना को मनुष्य–वास्तविक मनुष्य की आत्म चेतना' के रूप में स्वीकार किया। मार्क्स कहते है कि ''हीगल ने न केवल जगत को बल्कि मनुष्य को भी उसके सिर के बल खड़ा कर दिया है।''

जगत एवं मनुष्य को पुनः उसके पैरों पर खड़ा करने के लिए हीगल द्वारा स्वीकृत विचारों, प्रत्ययों, सिद्धान्तों की स्वतंत्र एवं वस्तुगत सत्यता का खण्डन किया और कहा कि मनुष्य एवं समाज के सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में ही इनका विश्लेषण किया जा सकता है। मार्क्स के अनुसार जैसे–जैसे मनुष्य अपनी क्रियाशीलता द्वारा स्वयं अपने एवं समाज में परिवर्तन करता है वैसे ही विचार, प्रत्यय एवं सिद्धान्त में भी परिवर्तन होता रहता है। मार्क्स, प्रत्ययवाद के निषेध द्वारा वस्तुतः दर्शन की नयी विधा का सूत्रपात करते है। उनके अनुसार दर्शन न तो मात्र भाषा एवं पदों का विश्लेषण है। जैसा तर्कीय प्रत्यक्षवादी मानते है और न ही मानवीय अस्तित्व तथा सत्ता एवं अनुभव की व्याख्या (जैसा कि अस्तित्ववादी तथा फेनामेनालॉजीवादी मानते है) बल्कि दर्शन प्रथमतः भौतिक परिस्थितियों एवं सामाजिक संरचनाओं को समझने और उन्हें परिवर्तित करने का साधन है। मार्क्स के चिंतन में आत्मनिर्भर, व्यवस्थित, शाश्वत, अमूर्त एवं परिकल्पनात्मक दर्शन के लिए कोई स्थान नही है। उनके अनुसार जहाँ परिकल्पना समाप्त होती है वहीं से

वास्तविक जीवन का प्रारम्भ होता है जहाँ से व्यावहारिक क्रियाशीलता को निर्देशित करने वाले वास्तविक भावात्मक चिंतन–जिसे मार्क्स ने 'विज्ञान' की संज्ञा दी है, का प्रारम्भ होता है। मार्क्स के 'विज्ञान' की अवधारणा प्राकृतिक विज्ञानों में समान नही है जो किन्हीं ऐसे शाश्वत् सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है जिसकी सार्वभौमिक वैधता एवं मान्यता होती है। मार्क्स का 'विज्ञान' से तात्पर्य ऐसे 'विज्ञान' से है जो हमें 'क्रिया' हेतु न केवल प्रेरित करे बल्कि उसी की तरफ ले जाये।

3.5.6 सार्त्र के अनुसार मानव स्वरूप की अवधारणा :

सार्त्र एक अस्तित्ववादी दार्शनिक है। अस्तित्ववाद को परिभाषित करते हुए वे कहते है, ''अस्तित्व सार का पूर्वगामी है।'' 'अस्तित्व' का अर्थ किसी वस्तु का सत्तावान होता है तथा 'सार' को सामान्यतः किसी वस्तु की उन विशेषताओं या धर्म के रूप में जाना जाता है जिसके नाते कोई वस्तु, वही वस्तु होती है। मनुष्य के सम्बन्ध में इस दृष्टि से प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या उसका अस्तित्व पहले है या 'सार' पहले है?

अस्तित्ववादी दर्शन मानवीय वास्तविकता का दर्शन है। 'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है–यह कथन मानवीय वास्तविकता पर ही लागू होता है, वस्तुओं के समुदाय पर नहीं। मानव–वैशिष्ट्य का, जगत् से उसके अलगाव का, किसी सामान्य सूत्र में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। सिद्धान्तों के माध्यम से मानवीय अस्तित्व की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास मताग्रह है, मानवीय वास्तविकता का मिथ्याकरण है। मानवीय अस्तित्व की समस्यायें, सैद्धान्तिक समस्यायें नहीं है। दर्शन का लक्ष्य सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना नहीं है। उसका उद्देश्य मनुष्य को दार्शनिकता के प्रथम बिन्दु पर ले जाकर यह प्रश्न पूछना है कि 'मनुष्य होने का क्या अर्थ है? इस प्रश्न का कोई एक, वस्तुगत, वैज्ञानिक तथा सुनिश्चित उत्तर नहीं हो सकता। ऐसा इसलिए नहीं कि मनुष्य के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अपर्याप्त है, बल्कि इसलिए कि मनुष्य अपनी सत्ता में निरन्तर एक प्रश्न बना रहता है। मानवीय वास्तविकता के सम्बन्ध में जगत् भी एक प्रश्न है, एक खुली सम्भावना है। दोनों के ही बारे में जितना कहा जा सकता है, वे उससे अधिक होते है। मानवीय व्यवहार को किसी सामान्य सूत्र द्वारा सीमित अथवा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। उसका अपना व्यवहार भी उसकी वास्तविकता को परिसीमित नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य अपने ही व्यवहार द्वारा निरन्तर अपना निर्माण करता रहता है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि :

- अस्तित्ववादी दर्शन को प्रायः व्यष्टितावादी दर्शन के रूप में ग्रहण किया जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसका सामान्य से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसके लिए भी दर्शन का लक्ष्य मानवीय अनुभूतियों की 'संप्रत्ययात्मक एकता' स्थापित करना है। कामू अपनी समस्त अतर्कबुद्धिपरता के बावजूद अपने असंगत तर्कों के लिए 'तर्कबुद्धि' का सहारा लेते हैं। पोन्ती हेगेल की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं।

- अपने व्यवहारों द्वारा व्यक्ति अपनी जो 'प्रतिमा' बनाता है, वह उसकी सर्वथा निजी प्रतिमा नहीं होती; वह सभी मनुष्यों की प्रतिमा होती है। यह मनुष्य का महान अस्तित्वपरक उत्तरदायित्व है, इससे वह बच नहीं सकता।
- किन्तु मनुष्य अपनी जो प्रतिमा बनाता है, वह उसका निषेध करने में भी समर्थ होता है। मनुष्य की यह विशिष्ट निषेधात्मक क्षमता है : वह जो कुछ है, उसने अपने को जो कुछ बनाया है, उससे अलग हो सकता है। अपने द्वारा अपने लिए निर्धारित सार का वह परित्याग कर सकता है।

3.6 सारांश :

मानव स्वरूप सम्बन्धी उपर्युक्त विश्लेषण को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए, कहा जा सकता है :

- प्लेटो अपने द्वैतवाद के कारण मनुष्य की आत्मा एवं शरीर को भिन्न मानते है। अरस्तू अपने कारणता सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में मानव स्वरूप को समझने हेतु उसकी सत्ता के उद्देश्य या प्रयोजन को जानना चाहते हैं। उनके अनुसार समाज, मनुष्य को उसके स्वरूप से परिचित कराने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।
- एक्विनास मानव स्वरूप की विवेचना हेतु 'पूर्णता' के प्रत्यय का सहारा लेते है और मानते है कि 'शरीर' (पदार्थ) ही 'आत्मा' को व्यक्तित्व प्रदान करते हैं ।
- डेकार्ट ने 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य के 'संदेहकर्त्ता' के रूप में अस्तित्व को असंदिग्ध माना है।
- ह्यूम अनुभववाद की स्थापनाओं के प्रति तार्किक रूप से ईमानदार रहते हुए किसी भी ऐसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते है जिसका कोई इन्द्रियानुभव न होता हो।
- कांट के चिंतन की प्रमुख समस्या ज्ञान के स्रोत, सीमा एवं वैधता की थी।

- हीगल निरपेक्ष प्रत्ययवादी है जो चेतना की ही एक मात्र सत्ता मानते है। '
- अस्तित्ववाद के पूर्व जितनी भी दार्शनिक परम्पराएँ है उन्होंने मनुष्य के स्वरूप की विवेचना के लिए किसी प्रागनुभविक पूर्व निर्धारित 'सार' तत्त्व का सहारा लिया है। यह सार तत्त्व भौतिक (उसका शरीर) या चेतना (आत्मा) कोई भी हो सकता है।

3.7 परिभाषिक शब्द :

द्वैतवाद : वह सिद्धान्त जो दो स्वतंत्र एवं निरपेक्ष तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करता है।

द्रव्य : उस सत्ता को कहते है जो स्वतंत्र एवं निरपेक्ष होती है तथा अपनी सत्ता हेतु किसी पर निर्भर नही होती है।

अस्तित्ववाद :यह वह चिंतन है जो मनुष्य की विवेचना के लिए उसके अस्तित्व को वरीयता देता है तथा यह मानता है कि मनुष्य अपनी क्रिया द्वारा अपने सार तत्त्व–स्वरूप को अर्जित करता है।

1.8 अभ्यास हेतु प्रश्न :

1.''प्रारम्भिक ग्रीक चिंतन में किसी 'अभौतिक' सत्ता का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।'' यह कथन :

(अ) सत्य है।

(ब) असत्य है।

(स) द्विविधापूर्ण है।

(द) उपर्युक्त में से कोई नही।

2.''मनुष्य समस्त चीजों की कसौटी है।'' यह कथन सम्बन्धित है :

(अ) हेरेक्लाइटस

(ब) सुकरात

(स) प्रोटागोरस

(द) प्लेटो

3.सोफिस्ट सम्प्रदाय के सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिक है :

(अ) प्लेटो

(ब) प्रोटागोरस

(स) हेरेक्लाइटस

(द) सुकरात

4.'प्रत्ययों के स्वतंत्र जगत' की कल्पना किस दार्शनिक ने की थी?

(अ) सुकरात

(ब) प्रोटागोरस

(स) हेरेक्लाइटस

(द) प्लेटो

5.प्लेटो के अनुसार इन्द्रियानुभविक जगत :

(अ) वास्तविक है।

(ब) प्रत्ययों के जगत की अनुकृति है।

(स) उपर्युक्त दोनों।

(द) प्लेटो के अनुसार।

6. प्लेटो के अनुसार :

(अ) प्रत्यय पूर्ण सत् है।

(ब) प्रत्यय आंशिक सत् है।

(स) प्रत्यय भ्रम है।

(द) प्रत्यय कल्पना है।

खण्ड – 2
मूल्य की अवधारणा

इकाई. 4 : मूल्य की परिभाषा एवं स्वरूप

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 मूल्य की परिभाषा

4.4 मूल्य का स्वरूप

4.5 सारांश

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.7 पारिभाषिक शब्दावली

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.1 प्रस्तावना

आधार पाठ्यक्रम – मानव मूल्य व आचार से सम्बन्धित मूल्य की अवधारणा नामक खण्ड – 2 की यह पहली इकाई है। इसमें आप मूल्य का अध्ययन करने के लिए मानव जीवन में आचार की प्रधानता में आने वाले उन सभी आदर्शों के पालन का उदाहरण सहित अध्ययन करेंगें। मूल्य का जब कीमत, दाम, भाव, मात्र आदि अर्थ माना जायेगा तो वह केवल वस्तुओं से ही सम्बन्धित होगा। इस अर्थ का मानव जीवन से कुछ भी लेना–देना नहीं है।

जीवन तो आदर्शों के पालन व आचरण से कीमती होता है। इसीलिए भारतीय परम्परा में महापुरूषों के मार्ग का अनुसरण करने पर बार–बार जोर दिया गया है। जीवन मूल्यों के अर्न्तगत जन्म से लेकर मृत्यु तक की मनुष्य की यात्रा में सेवा, संस्कार, धर्म का आचरण, करूणा, परोपकार, त्याग आदि ही उसके जीवन को पवित्र करते हुए पशुओं से अलग करके उत्कृष्ट बनाते हैं। सम्भवतः इसीलिए केवल मानव मूल्य की बात की जाती है, पशु मूल्य की बात कोई नहीं करता।

इसी इकाई में आप मानव मूल्यों की परिभाषायें जानकर जीवन के विभिन्न सोपानों में आचरित सभी मूल्यों के स्वरूप को जानेंगें। मानव मूल्य सर्वदा जीये जाते हैं। कहने और लिखने से इनकी महत्ता नहीं होती।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

1– मूल्य शब्द का अर्थ बतायेंगें ।

2– मानव मूल्य की अवधारणा को भली भॉति समझायेंगें।

3– त्याग, सेवा व धर्म के आचरण को परिभाषित करेंगें।

4– मूल्य जीवन में इस प्रकार आचरित होते हैं, ऐसे आदर्शों के आचरण को बताएगें।

5– मानव जीवन में मूल्यों की अनिवार्यता पर विस्तार से प्रकाश डालेंगें।

4.3 : मूल्य की परिभाषा

जिस समाज में केवल पैसे की प्रधानता को ही जीवन का सबकुछ माना जा रहा हो, ऐसे समाज में मूल्य शब्द का प्रयोग पहले तो इन अर्थों में हो रहा है, जैसे 'दाम', 'कीमत', 'भाव' आदि– आदि । यह सब किसी वस्तु की लेन–देन में ही प्रयुक्त होते हैं, जिनका आचरण से कोई संबंध ही नहीं है। तब बात यह उठती है कि वह कौन सी चीज है जिसे **मानव मूल्य** कहा जाय । इसके लिए हम कहेंगे कि जिनके सहारे मनुष्य का पूरा जीवन पवित्र होकर सजता सँवरता है, ऐसे 'आचरणीय सूत्र' ही मानव–मूल्य" हो सकते हैं । जिनके भीतर धर्म का आचरण, सही बोलना, परोपकार करना, दानशील होना, सेवा करना, त्यागी होना, शान्त रहना, अहिंसक होना, सहानुभूति की भावना आदि अनेक आचरणीय सूत्र आते हैं । इन्हीं मूल्यों की उत्कृष्टता का वर्णन हमारे संपूर्ण धर्म ग्रन्थों में हुआ है। प्रातःकाल में ऑख खोलने से लेकर लम्बी जीवन यात्रा में इन मानव मूल्यों को अपनाने की अनिवार्यता का वर्णन वेद से लेकर काव्य साहित्य तक में किया गया है। मूल्यों के बारे में ऐसा किसी एक ही स्थान पर कुछ भी नहीं कहा गया है, जिसे पढकर कोई मूल्यों का ज्ञाता हो जाय। अथवा सभी मूल्यों का वर्णन करने में सक्षम हो जाय । मोती चुनने की बात है, सागर में गोता लगायें और आचरणीय सूत्रों चुनकर इकट्ठा करें ,इनका मनन करें, फिर इन्हें जीयें । इसी स्थिति में मूल्य जाने जा सकते हैं, अपनाये भी जा सकते हैं । इनके अभाव में जीवन सारहीन होगा, बंजर भूमि के समान होगा ।

अर्थ : पहले तो यह जानिए कि मूल्य शब्द बनता कैसे है –

पाणिनि की धातु है – **√**मूल् प्रतिष्ठाायाम् । इसमें जब मूल् शब्द के बाद यत् प्रत्यय लगाते है, तब मूल्य बनता है । इससे शब्द बनता है – मूलति, जिसका अर्थ होगा

प्रतिस्थापयति । अर्थात् जो भी हमारे जीवन की प्रतिष्ठा है या जिन आचरणों से हमारा जीवन प्रतिष्ठित होता है, उन्हें हम जीकर प्रतिस्थापित करते हैं, तो वे ही मूल्य कहलाते हैं, इसके पहले मूल् रहता है ।

मानव मूल्य ही जीवन मूल्य है, हमें कहीं भी 'पशु मूल्य' जैसे शब्द नहीं मिलते । जो मानव जीवन में आचरणों की महत्ता जानेगा, वही जीवन मूल्य जानेगा । समझनें के लिए एक उदाहरण देखिए ––– मनुष्य और पशु में अन्तर क्या है ?

आहार निद्रा भय मैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिः नराणां
ज्ञानम् नराणां अधिकम् विशेषः
ज्ञानेन शून्यः पशुभिः समानः।।

यह भरतीय परम्परा का एक सुभाषित श्लोक है । आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये चारों सामान्य रूप से मनुष्य तथा पशु दोनों में पाये जाते हैं, केवल ज्ञान ही मनुष्य के पास अधिक है जो **इसे** पशु से अलग करता है । इसके अर्थ से ज्ञात होता है कि – मानव जीवन में ज्ञान का कितना महत्व है । यहॉ यह विचार आवश्यक है – क्या पशुओं में ज्ञान नहीं होता ? हम तो कहेंगे कि पशु भी ज्ञानी होते हैं । श्री दुर्गा सप्तशती के इन वचनों को देखिए –

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे ‖४७‖
विषयश्च महाभाग याति चैवं पृथक् पृथक्।
दिवान्धाः प्राणिनः केचिद्रात्रावन्धास्तथापरे ‖४८‖
केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः।
ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं किं तु ते नहि केवलम् ‖४९‖
यतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशुपक्षिमृगादयः।
ज्ञानं च तन्मनुष्याणां यत्तेषां मृगपक्षिणाम् ‖५०‖
मनष्याणां च यत्तेषां तुल्यमन्यत्तथोभयोः।
ज्ञानेऽपि सति पश्यैतान् पतङ्गाञ्छावचञ्चुषु ‖५१‖

।। श्री दुर्गा सप्त शती प्रथम अध्याय ।।

आशय यह है कि – विषय के मार्ग में जाने का ज्ञान सभी को होता है, सभी के लिए विषय भी अलग – अलग हैं। कोई दिन में नहीं देखता तो कोई रात में नहीं देखता । कुछ तो दिन और रात दोनों में बराबर देखते हैं । यह भी ठीक है कि मनुष्य समझदार होते हैंकिन्तु केवल वे ही ऐसे नहीं होते, उनके साथ–साथ पशु–पक्षी मृग आदि भी समझदार होते हैं ।

उपर के श्लोकों में यह बताया गया है कि स्वयं भूख लगी रहनें पर भी पशु पक्षी, मोह वश अन्न के दानें डाल देते हैं, क्या वे इसके बदले सोचकर ऐसा करते हैं ? नहीं । किन्तु मनुष्य लोभ में आकर – **'लोभात्प्रत्युपकाराय' प्रति उपकार की भावना से अपनी सन्तानों के साथ ऐसा करता है ।** अतः प्रति उपकार की भावना से की गयी सहायता परोपकार नहीं है ।

किसी अपरिचित के संकट में सहायता करके उसे उबारना ही परोपकार है । जब प्रति उपकार की भावना होगी तब **लोभ** पहले ही खड़ा मिलेगा । ऐसे आचरण को परोपकार नहीं कहेगें । स्पष्ट है कि बिना आचरित हुए मूल को मूल्य नहीं कहा जा सकता ।

अर्थात् जिन आचारों से हम अपने को समाज के साथ व्यवस्थित कर पाते हैं, जिन व्यवहारों के कारण केवल समाज का मंगल अपेक्षित हो वे मानव मूल्य कहलाएंगे । मानव की गरिमा ही मानव मूल्य हैं । संसार की सभी उपलब्धियां मानव के लिए हैं, मानव उनके लिए नहीं । जब मानव उनके लिए है, तब वे मूल हैं किन्तु जब वे मानव के लिए हों तब वे मूल्य हैं । मूल्य के लिए ज्ञान होना तो आवश्यक है, किन्तु आचरण के अभाव में किसी भी ज्ञान के द्वारा उचित व्यावहार की कल्पना नहीं की जा सकती । मूल्य ही मानव जीवन को सार्थक बना सकते हैं । मानव जीवन को सार्थक बनाने के लिए ज्ञान ही मूल्यों के रूप में होता है । अतः स्पष्ट है कि **'ज्ञान पर आधारित आचरणात्मक तत्वों का समाहार मूल्य हैं'।**

पशु जन्म को दुर्लभ नहीं कहा गया केवल मनुष्यय जन्म ही दुर्लभ माना गया है, मनुष्य का जीवन ही मूल्यों को **प्रतिस्थापित** कर सकता है । आदि शंकराचार्य का कथन देखिए – **दुर्लभं त्रयमेवैतद्दैवानुग्रहहेतुकम् ।**

मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥

इस संसार में नितान्त दुर्लभ तीन विषय है – मनुष्य–योनि में जन्म, मुक्ति की उत्कट अभिलाषा तथा महान सन्तों की कृपा एवं संगति।

4.4 : मूल्य का स्वरूप

मूल्य के रूप तो अनेक हैं किन्तुं स्वरूप तात्विक है । परिवर्तित होते रहना रूप का स्वभाव है । परिवेश के अनुसार, मान्यताओं के अनुसार मूल्यों के रूप भिन्न–भिन्न देखे जाते हैं, किन्तु सभी मूल्य, अपनी स्थितियों में उसी प्रकार रहते हैं । पहले यहॉ पर मूल्यों के प्रकार के विषय में चर्चा कर लेते हैं, फिर उनके स्वारूप का अध्ययन करेंगे । प्रमुख रूप से मूल्य इस प्रकार हैं ––-

1. शैक्षिक संस्कारों के निहितार्थ में जीना या धर्म पालन
2. सेवा
3. श्रद्धा
4. करूणा
5. परोपकार
6. त्याग

शैक्षिक संस्कारों के निहितार्थ में जीना या धर्म पालन

वेदों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत, भागवत, भगवद्गीता आदि में मूल्यों के आचरण अनेक स्थानों पर बताये गये हैं, जिसमें हमारे जीवन को सार्थक बनाने के सभी उपक्रमों का उल्लेख विस्तार से है । इन 'मानव मूल्यों' का उल्लेख संक्षेप में इस प्रकार है यथा सत्य बोलना, हिंसा न करना, दयालु होना, उचित–अनुचित का विवेक, एकान्त में स्त्रियों के साथ न रहना, चाहे अपनी माता ही क्यों न हो । गुरू अथवा शिक्षक के प्रति समर्पण, गुरू के अनुकरणीय आचारों का अनुगमन करना, प्रकृति की रक्षा करना, लोभ से दूर होना, वासना के वशीभूत होकर अनाचार में लिप्त न होना । प्राप्त ज्ञान का दान करने में संकोच न करना, ये सब मूल्य हैं । जो छात्र अपने जीवन में उपर्युक्त आचरणों के सहारे समाज में रहता है, उसे कभी अपयश नहीं मिलता । उसका जीवन पवित्रता से भरा होता है । सत्य का यदि पालन न हो तब भी उसकी सत्ता तो रहेगी, अहिंसा भी उसी प्रकार है । व्यक्ति के मन की उदारता ही दया का स्वरूप है । एकान्त में स्त्रियों के साथ न रहना ही जितेन्द्रिय बनने में सहायक है । गुरू अथवा शिक्षक के प्रति समर्पण ही आगामी गुरूता का स्वरूप है । प्रकृति की रक्षा करना ही अपने अस्तित्व के बोध को दर्शाता है । लोभ से दूर होना ही समत्व है । अतः यही हमारे शैक्षिक संस्कारों के निहितार्थ में जीना है, यदि इन्हें जीयेंगे तो आपका जीना ही मूल्य कहलायेगा ।

सेवा

हमारी संस्कृति में मानव सेवा को ही ईश्वर सेवा मानने की विशिष्टता निहित है । महाभागवत में वर्णित एक आख्यान से ज्ञात होता है कि महाराजा रन्तिदेव ने महाविष्णु के प्रकट होने पर उनसे मोक्ष न माँगकर जनता की सेवा करने की शक्ति प्रदान करने का वरदान माँगा था ।

सेवा मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है जो अन्य प्राणियों से श्रेष्ठतम बनाता है। सेवा मानवता की अद्भुत जीवन रेखा है। सेवाधर्म परम गहन होने से योगियों के लिए अगम है । विवेक, बुद्धि, काल और समय का विचार करके सेवाधर्म का निर्वहन होता है। सेवा

के समान कोई तप और यज्ञ नहीं है। हनुमान जी सेवा और आत्मसमर्पण के प्रतीक हैं । तुलसीदास जी कहते हैं कि –

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना । सेवा धरमु कठिन जगु जाना ।

भारतीय चिंतन में सेवा जीवन शैली का एक विशिष्ट अंग है । सामाजिक सेवा कीर्ति बढ़ाती है । सेवा परमात्म तत्व, वरदान, यज्ञ, तप और त्याग है। सेवा परमतत्व सिद्ध होती है। सेवा का वास तप के मूल में है। सेवाधर्म में स्वार्थ ईर्ष्या के कारण विरोध आता है। सेवा का भाव परिवार और मां की गोद से उपजता है। यह सबसे बड़ा संस्कार होता है। सेवा करने की तत्परता महानता का लक्षण है। दूसरों के लिए निःस्वार्थ भाव से किया गया कार्य सेवा है। सेवा का अर्थ है देने के अलावा न लेने का संकल्प। सेवा व्रत सदाचरण का प्रतीक है। सेवा का श्रेष्ठतम रूप माता–पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा करना है। सेवा का संस्कार महान बनाता है। सेवाव्रती तेजस्वी, कर्मनिष्ठ, उन्नत एवं विलक्षण होते हैं। निष्काम सेवा जीवन को चमकाती है। मानवता की सेवा ईश्वर की पूजा है। सेवा में ही जीवन है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि त्याग और सेवा भारत के दो आदर्श हैं। इन दिशाओं में उसकी गति को तीव्र कीजिए शेष अपने आप ठीक हो जायेगा । वही जीवित हैं, जो दूसरों की सेवा के लिए जीते हैं । समाज सेवा विराट की सेवा है । सेवाधर्म की पावन मंदाकिनी सबका मंगल करती है । यह लोक साधना का सहज संचरण है । माता–पिता की सेवा से बढ़कर कोई तप नहीं है । सेवा मानवीय गुण है निष्काम सेवा का फल आनंद है ।

श्रद्धा

धर्म के आचरण से पहले श्रद्धा का स्थान है, रामचरितमानस में –––

श्रद्धा बिना धरम नहि होई, ऐसी चौपाई आती है । सभी मूल्यों का आचरण धर्म का आचरण है ।

धर्म' शब्द मात्र 'कर्तव्य पालन' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महाभारत के वन पर्व में एक शूद्र धर्मव्याध का आख्यान उल्लिखित है, जो मांस विक्रय का पेशा करता था, परन्तु उसने ब्राह्मण कौशिक को उपदेश देकर यह सिद्ध किया कि 'संसार में स्वधर्माचरण से श्रेष्ठतम तथ्य अन्य कुछ नहीं है, जिसका आचरण ही मानव के लिये परमोत्कृष्ट धर्म है।'

जन्म संस्कार मात्रेण धर्म मार्ग प्रवर्तकः
उपदेशम् कौशिकाय धर्मव्याधो भवत्तदा।

श्रीमद्रामायण में माता कौशल्या श्रीरामचन्द्र से अपने धर्म का आचरण करने का उपदेश देते हुए कहती है –

यं पालयसि धर्मं त्वं धृत्या च नियमेन च
स वै राघव शार्दूला धर्मम्त्वामभिरक्षतु।

भाव यह है कि 'हे राम! तुम जिस धर्म का आचरण करोगे, वही तुम्हारी रक्षा करेगा । धर्माचरण को भारत में अत्यंत प्रभावपूर्ण माना गया है । महाभारत के वन पर्व में यक्ष जब युधिष्टिर से अनेक प्रश्न पूछकर संतुष्ट होता है, तो वह कहता है कि 'हे युधिष्टिर! बुद्धिजीवियों ने स्पष्टतः कहा है कि इस संसार में स्वधर्माचरण से बढकर अन्य कोई तपस्या नहीं है, जिसका आचरण कर तुमने उसके महत्व को सिद्ध कर दिया है। उपर के बताये गये सभी आचरण श्रद्धा के बिना सम्भव नहीं हैं । जैसे –

तपस्वधर्म वर्तित्वम् इति प्रोक्तम् बुधैस्सदा
तस्मात्तदेव कर्तव्यम् यदा धर्मेण द्वापरे ।

करूणा

मनुष्य को जीवन कठोरता में निवास नहीं करता है बल्कि मानव व्यवहार में करूणा का सबसे बड़ा स्थान है। पशुओं में भी करूणा पाई जाती है। करूणा से पहले मनुष्य आचरण की किसी कोटि में नहीं आता है। वस्तुतः शोक में करूणा रहती है किन्तु दूसरे के दुख को देखकर दुखी होने पर यह प्रकट होती है। रघुवंश महाकाव्य का अजविलाप इसका बहुत बड़ा उदाहरण है। राम कथा में दशरथ का विलाप भी इसी प्रकार है। यहॉ आप करूणा को इस प्रकार समझें –

पुत्र के वियोग में पिता को मृत्युतुल्य कष्ट होना करूणा नहीं है बल्कि पुत्र के दुख से दुखी होना करूणा है। इसकी प्रथम अवस्था शोक ही है। भारतीय परम्परा के सभी ग्रन्थों में ईश्वर को करूणानिधान कहा गया है। वहॉ वियोग में करूणा नहीं होती, संजोग में होती है। आर्त व्यक्ति अपने शोक को मिटाने के लिए जब किसी की शरण में जाता है अथवा किसी को व्याकुल होकर पुकारता है तो इस स्थिति को देखकर जिसका भी हृदय उसी प्रकार शोकाकुल हो जाये उसी में करूणा मानी जायेगी।

करूणा बुद्धावतार का बहुत बड़ा संदेश है। बुद्ध को करूणा की मूर्ति कहा गया है क्योंकि उनका समस्त उपदेश दुखों से छुटकारा पाने के लिए किया गया है। भागवत् के दशम् स्कन्ध के पूर्वार्ध में द्वितीय अध्याय के वर्णन में कृष्ण के देवकी के गर्भ में आने पर ब्रह्मा, शिव और नारद आदि ऋषियों की स्तुति में बताया गया है कि – संसार एक वृक्ष है, इसके दो ही फल हैं – सुख और दुख । जब दुख संसार का फल है तो बिना करूणा के मानव जीवन कैसे चलेगाः अतः एक दूसरे के दुखों से

परिचित होना और उन्हें दूर करने में पूर्ण भावनात्मक सहभागी होना ही कारूणिक मनुष्य का लक्षण है।

परोपकार

जीवन एवं शरीर की प्राप्ति मानव–सेवा के लिये है, न कि भोग हेतु । इस संदर्भ में प्रकृति ही हमारा प्रथम गुरु है, यथा

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः

परोपकाराय वहन्ति नद्यः

परोपकाराय दुहन्ति गावः

परोपकारार्थमिदम् शरीरम्।

उक्त श्लोक से हमें अपने कर्तव्य का बोध स्वयमेव हो जाता है । **परोपकार** का अर्थ है दूसरों की भलाई करना। कोई व्यक्ति जीविकोपार्जन के लिए अनेक उद्यम करते हुए यदि दूसरे व्यक्तियों और जीवधारियों की भलाई के लिए कुछ प्रयत्न करता है तो ऐसे प्रयत्न परोपकार की श्रेणी में आते है । परोपकार के समान कोई धर्म नहीं है । मन, वचन और कर्म से परोपकार की भावना से कार्य करने वाले व्यक्ति संत की श्रेणी में आते हैं । ऐसे सत्पुरुष जो बिना किसी स्वार्थ के दूसरों पर उपकार करते है वे देवकोटि के अंतर्गत कहे जा सकते है । परोपकार ऐसा कृत्य है जिसके द्वारा शत्रु भी मित्र बन जाता है । यदि शत्रु पर विपत्ति के समय उपकार किया जाए तो वह भी उपकृत होकर सच्चा मित्र बन जाता है । भौतिक जगत का प्रत्येक पदार्थ ही नहीं, बल्कि पशु पक्षी भी मनुष्य के उपकार में सदैव लगे रहते है । यही नहीं सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, फल, फूल आदि मानव कल्याण में लगे रहते हैं । इनसे मानव को न केवल दूसरे मनुष्यों बल्कि पशु–पक्षियों के प्रति भी उपकार करने की प्रेरणा मिलती है । असहाय लोगों, रोगियों और विकलांगों की सेवा परोपकार के अंतर्गत आने वाले मुख्य कार्य हैं ।

सच्चा परोपकारी वही व्यक्ति है जो प्रतिफल की भावना न रखते हुए परोपकार करता है गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि शुभ कर्म करने वालों का न यहां, न परलोक में विनाश होता है । शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है। चाणक्य के अनुसार जिन सज्जनों के हृदय में परोपकार की भावना जागृत रहती है, उनकी आपत्तियां दूर हो जाती है और पग–पग पर उन्हे संपत्ति और यश की प्राप्त होती है। तुलसीदास ने परोपकार के विषय में लिखा है –

परहित सरिस धरम नहिं भाई।

परपीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

दूसरे शब्दों में, परोपकार के समान कोई धर्म नहीं है । विज्ञान ने आज इतनी उन्नति कर ली है कि मरने के बाद भी हमारी नेत्र ज्योति और अन्य कई अंग किसी अन्य व्यक्ति के जीवन को बचाने का काम कर सकते हैं। इनका जीवन रहते ही दान कर देना महान उपकार है । परोपकार के द्वारा ईश्वर की समीपता प्राप्त होती है। इस प्रकार यह ईश्वर प्राप्ति का एक सोपान भी है ।

परोपकार शब्द 'पर+उपकार' इन दो शब्दों के योग से बना है । जिसका अर्थ है निःस्वार्थ भाव से दूसरों की सहायता करना । अपनी शरण में आए मित्र, शत्रु, कीट–पतंग, देशी–परदेशी, बालक–वृद्ध सभी के दुःखों का निवारण निष्काम भाव से करना परोपकार कहलाता है ।

प्रकृति का कण–कण हमें परोपकार की शिक्षा देता है – नदियाँ परोपकार के लिए बहती है, वृक्ष धूप में रहकर हमें छाया देता है, सूर्य की किरणों से सम्पूर्ण संसार प्रकाशित होता है । चन्द्रमा से शीतलता, समुद्र से वर्षा, पेड़ों से फल–फूल और सब्जियाँ, गायों से दूध, वायु से प्राण शक्ति मिलती है।

पशु तो अपना शरीर भी नरभक्षियों को खाने के लिए दे देता है । प्रकृति का यही त्यागमय वातावरण हमें निःस्वार्थ भाव से परोपकार करने की शिक्षा देता है । भारत के इतिहास और पुराण में परोपकार के ऐसे महापुरुषों के बहुत सारे उदाहरण हैं जिन्होंने परोपकार के लिए अपना सर्वस्व दे डाला ।

राजा रंतिदेव को चालीस दिन तक भूखे रहने के बाद जब भोजन मिला तो उन्होंने वह भोजन शरण में आए भूखे अतिथि को दे दिया। दधीचि ऋषि ने देवताओं की रक्षा के लिए अपनी अस्थियाँ दे डालीं । शिव ने समुद्र मंथन से निकले विष का पान किया, कर्ण ने कवच और कुण्डल याचक बने इन्द्र को दे डाले ।राजा शिवि ने शरण में आए कबूतर के लिए अपने शरीर का मांस दे डाला । सिक्खों के गुरू गुरू नानक देव जी ने व्यापार के लिए दी गई सम्पत्ति से साधु सन्तों को भोजन कराके परोपकार का सच्चा आचरण किया ।

त्याग

मानव के लिये त्याग भावना अत्यंत सहज होनी चाहिये, जब हम 'अपनी आवश्यकतआओं की उपेक्षा कर किन्हीं जरूरतमन्दों का उपकार करते हैं, तो उसे ही त्याग भावना' कहा गया है। कठोपनिषद का स्पष्ट कथन है कि कर्म, संतान अथवा धन के माध्यम अमृतत्व की स्थिति को कदापि नहीं पाया जा सकता है. केवल त्याग के

माध्यम ही इसे प्राप्त किया जा सकता है, यथा –

'न कर्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैकेन अमृतत्व मानसुः'।

महाभारत में राजा शिबि का आख्यान वर्णित है, जिसने एक कपोत की रक्षा के लिये अपने शरीर को काटकर उन्होनें बाज को मांस दिया था।

'त्यागेनैकेन ख्यातोभूत शिविस्सर्व महान् तथा

कपोत रक्षणार्धाय स्वशरीरमदात्तदा'।

दधीचि और कर्ण त्याग भावना के संदर्भ में उल्लेखनीय चरित्र हैं। दधीचि ने वृत्तासुर के संहार के लिये अपनी रीढ़ की हड्डी को दान में दे दिया, जिससे वज्रायुध का निर्माण हुआ, तो दानी कर्ण ने अपने जन्मजात कवच और कुंडल दान में देकर अपनी त्याग भावना का परिचय दिया। मत्स्य पुराण में राजा बलि का आख्यान विस्तार में वर्णित है , जब राक्षस गुरु शुक्राचार्य को ज्ञात होता है कि राजा बलि ने वामन को तीन पग धरती दान देने का वचन दे दिया है, तो वह बलि को अपने वचन से मुकर जाने के कई तथ्य प्रस्तुत करता है, परन्तु बलि अपनी बात पर टिके रहते है । कविकुल गुरु कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवंशम' के पंचम सर्ग में महाराज रघु की प्रशंसा में कहा कि वरतन्तु के शिष्य कौत्स की इच्छापूर्ति के लिये चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रायें दान में देकर अपनी वचनबद्धता निभाया ।

4.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आपने जाना कि मनुष्य द्वारा आचरित आदर्शों के स्थापना को ही मूल्य कहा जाता है। वस्तुतः अन्य किसी प्रकार के मूल्य मानव मूल्य के अर्न्तगत नहीं आते हैं। जिससे जीवन पवित्र हो और अपने कारण किसी अन्य को कोई असुविधा न हो ऐसे ही आचार को मूल्य माना जायेगा। अर्थात सेवा आदि जो भी आदर्श पढ़े जाते हैं उनका पूर्ण रूप से पालन ही मूल्य कहलाता है। इन्हें मनुष्य ही जी सकता है। इसीलिए ये मानव मूल्य कहलाते हैं बिना किसी प्रति उपकार की आशा के अपरिचित व्यक्ति के साथ की गयी सहायता परोपकार कहलाती है। सेवा और परोपकार के बल पर पृथ्वी पर मनुष्य को सभी प्रकार के वैभव की प्राप्ति हुई है। हमारे सभी पुराण, महाकाव्य आदि इस बात के साक्षी हैं। भागवत् में राजा रन्तिदेव ने अपनी तपस्या के फल को वरदान के रूप में मॉगते समय केवल सेवा धर्म मॉगा था। रामायण की कथा में राम की माता कौशल्या ने उन्हें कहा था कि तुम जिस धर्म का आचरण करोगे वही तुम्हारी उस रूप में रक्षा करेगा। इस प्रकार अनेक स्थानों पर सभी प्रकार के मानव मूल्यों के आचरण सम्बन्धी वर्णन पूरी परम्परा में भरे पड़े हैं। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप मूल्यों के प्रतिमान समझा सकेंगें।

इकाई – 5 भारतीय परम्परा में मूल्य, पुरुषार्थ एवं वर्णाश्रम–व्यवस्था, नीतिग्रन्थों में मूल्य (विदुर, शुक्र एवं चाणक्य)

इकाई संरचना

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 मूल्य शब्द का अर्थ
5.4 पुरूषार्थ
 5.4.1 धर्म
 5.4.2 अर्थ
 5.4.3 काम
 5.4.4 मोक्ष
5.5 वर्णाश्रम व्यवस्था
 5.5.1 ब्राह्मण
 5.5.2 क्षत्रिय
 5.5.3 वैश्य
 5.5.4 शूद्र
5.6 आश्रम
 5.6.1 ब्रह्मचर्य
 5.6.2 गृहस्थ
 5.6.3 वाणप्रस्थ
 5.6.4 सन्यास
5.7 नीति ग्रन्थों में मूल्य
 5.7.1 विदुर
 5.7.2 शुक्र
 5.7.3 चाणक्य
5.8 सारांश
5.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

5.1 प्रस्तावना

भारतीय परम्परा एवं संस्कृति से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है। जैसा कि आप सब जानते हैं कि भारतीय संस्कृति अपनी विशिष्टताओं के कारण विश्वभर में प्रसिद्ध है। प्रस्तुत इकाई में आप यह जानेगें कि –

मूल्य का अर्थ क्या है ?

मूल्य के रूप में पुरुषार्थ के अन्तर्गत धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष से अभिप्राय क्या है? प्राचीन भारत में विद्यमान वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था का स्वरूप क्या था?

नीति ग्रन्थों में किन–किन मूल्यों का प्रमुखता से वर्णन किया गया है?

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बता सकेंगें कि मूल्य से क्या तात्पर्य है?

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष जीवन में क्यों आवश्यक माने गये थे। वर्णव्यवस्था के मूल में इसका योगदान कैसा था?

आश्रम–व्यवस्था में इसका योगदान कैसा था?

आश्रम–व्यवस्था व्यक्तिगत विकास के लिए की गई थी तथा विदुर, चाणक्य एवं शुक्र ने किन–किन मूल्यों को आवश्यक माना है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बता सकेगें कि –

- मूल्य किसे कहते हैं?
- पुरुषार्थ के रूप में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का स्वरूप क्या है?
- वर्णव्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत कौन–कौन से कर्तव्य निर्धारित किये गये थे?
- व्यक्तित्व के विकास एवं समाज के उत्कर्ष के लिए नीति आचार्यो ने कौन–कौन से मूल्य आवश्यक माने हैं?

5.3 मूल्य शब्द का अर्थ

मूल्य शब्द संस्कृत के 'मूल' धातु के साथ यत् प्रत्यय के संयोग से बना है। इसका अर्थ है – वेतन, पारिश्रमिक, उपयोगिता, साहित्य एवं मानव व्यवहार में रहने वाला ऐसा तत्त्व जो सामाजिक आदर्श और व्यक्तिगत श्रेष्ठता को प्रतिष्ठित करे। मूल्य का पर्याय वैल्यू (Value) है, जो लैटिन भाषा के 'वैलारे' (Valore) शब्द से व्युत्पन्न है,

जिसका अर्थ है – अच्छा, सुन्दर, उत्तम, उपयोगी, समर्थ या शक्तिशाली। इस प्रकार जो कुछ वाञ्छित है, इच्छित है, उत्तम है वही मूल्य है। मानव कल्याण के प्रति झुकाव, निःस्वार्थता , समाज की स्वीकृति–इन तीनो तत्त्वों का जब किसी भी सिद्धान्त या व्यवहार में समावेश होता है तो वे मूल्यपरक कहे जायेंगे।

मनुष्य के पास विवेक की शक्ति है, जिससे वह उचित–अनुचित तथा शुभ एवं अशुभ में अन्तर करता है। उसके पास मानवता नामक भाव है जो मानव बनाता है। इसका त्याग करते ही वह पशुओं की श्रेणी में आ जाता हैं। मनुष्य में सौन्दर्यबोध है। अतः उसके जीवन का लक्ष्य केवल क्षुधापूर्ति नहीं वरन् मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास के द्वारा स्वयं को और समाज को श्रेष्ठता प्रदान करना है। सत्यवादिता, आत्मसंयम, सन्तोष, प्रेम, अहिंसा, नैतिकता एवं लोक कल्याण की भावना, स्वच्छता, सहयोग, समानता, धैर्य, विनम्रता, कर्त्तव्यनिष्ठा, अनुशासन, विवेकशीलता, मैत्री, निष्कपटता, वफादारी, राष्ट्रियता की भावना, कृतज्ञता, ईमानदारी, जीवों पर दया, सहानुभूति आदि गुण मूल्य के अन्तर्गत आते हैं। इनसे श्रेष्ठता एवं शक्ति प्राप्त होती है। शक्ति का स्रोत होने के कारण इन्हें मूल्य कहते हैं। व्यक्ति एवं समाज के कल्याण के मूल में मानवीय मूल्य ही हैं।जीवनमूल्य का स्रोत व्यक्ति, परिवार, आचार–विचार, दूसरों के प्रति व्यवहार, जीवन पद्धति, राजनीति, धर्म आदि हैं। मूल्य का कार्यक्षेत्र मनुष्य जीवन एवं मानव समाज है पर उसका अस्तित्व अर्थ, राजनीति, संस्कार एवं नीतिशास्त्र आदि अनेक तत्त्वों पर निर्भर हैं।

मूल्य के लिए कुछ अन्य शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। जैसे –आदर्श, मान, मानक, मानदण्ड, प्रतीमान, नार्म (Norm), सिद्धान्त एवं पुरुषार्थ आदि। जब मूल्य विकसित होकर स्पष्ट हो जाते हैं तब वे आदर्श बन जाते हैं। मूल्य हमेशा आदर्शात्मक नहीं होते हैं, वे यथार्थपरक भी होते हैं। मान एवं मानक का अर्थ है–प्रतिष्ठा। मानदण्ड का तात्पर्य है मूल्यों की कसौटी। प्रतिमान का अर्थ है– समान मानवाली यानि वह वस्तु या रचना जिसे आदर्श मानकर उसके अनुरूप और वस्तुऍ बनाई जायें। नार्म का अभिप्राय है वह प्रतिमान जो निर्णय के सन्दर्भ में एक मानक अथवा सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त होता है। नार्म को मूल्य की अन्तिम अवस्था भी कहा जा सकता है जबकि सिद्धान्त वह मूलवर्ती धारणा है जो मूल्यों का नियमन करती है। अर्थ का अभिप्राय है पदार्थ में निहित मूल्य और पुरुषार्थ का तात्पर्य है वे प्रयत्न जिनसे जीवन के विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति होती है। ये चार हैं – धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष।

5.4 पुरुषार्थ

पुरुषार्थ का शाब्दिक अर्थ है – पुरुष द्वारा प्राप्त करने योग्य। आजकल की शब्दावली में इसे मूल्य कह सकते हैं। हिन्दू विचारशास्त्रियों ने चार पुरुषार्थ माने हैं।

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। धर्म का अर्थ है– जीवन का नियामक तत्त्व, अर्थ का तात्पर्य है–जीवन के भौतिक साधन, काम का अर्थ है–जीवन की वैध कामनाएँ और मोक्ष का अभिप्राय है जीवन के सभी बन्धनों से मुक्ति। प्रथम तीन को पवर्ग और अन्तिम को अपवर्ग कहते हैं। इन चारों का चारो आश्रमों से सम्बन्ध है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य धर्म का, दूसरा गार्हस्थ्य धर्म एवं काम का तथा तीसरा वानप्रस्थ एवं चौथा संन्यास मोक्ष के अधिष्ठान हैं। यहाँ धर्म का विशेष अर्थ है – अनुशासन तथा सारे जीवन को एक दार्शनिक रूप से चलाने की शिक्षा, जो प्रथम ब्रह्मचर्य में ही सीखना पड़ता है। इन चारो पुरुषार्थों में भी विकास परिलक्षित होता है। यथा एक से दूसरे की प्राप्ति धर्म से अर्थ, अर्थ से काम तथा धर्म से पुनः मोक्ष की प्राप्ति।

इन चारो पुरुषार्थों को चतुर्वर्ग की संज्ञा दी गई है। बाद में चलकर मोक्ष को अन्तिम मानकर तीन पुरुषार्थों धर्म, अर्थ और काम पर ही बल दिया गया जिन्हें त्रिवर्ग कहा गया। ये तीनों जीवन में एक साथ अनुसरित किये जा सकते हैं।

5.4.1 धर्म

धृञ्धारणे धातु से मन् प्रत्यय का संयोग होने पर धर्म शब्द बना है। जिसका अर्थ है पालन करना तथा आश्रय देना। सामन्यतः धर्म व्यक्ति के आचरण और व्यवहार की एक संहिता है जो उसके कार्यों को देश, काल और परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थित, नियमित और नियंत्रित करता है तथा उसे स्वस्थ और उज्ज्वल जीवन जीने के लिए ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता है। धर्म का अभिप्राय जीवन की ऐसी विधि से है जो नैतिक और सात्विक आचरण से सम्बद्ध है। आचरणगत नियमों का संग्रह ही धर्म है, जिसके तीन मूल कार्य हैं – 1. नियन्त्रण 2. व्यक्तित्व का उत्थान 3.जीवन के अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' के लिए व्यक्ति को सन्नद्ध करना।

शास्त्रों के अनुसार धर्म वह तत्त्व है जो जगत् को धारण करता है तथा यम–नियम द्वारा जीवन को संतुलित रखता है। अंहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान ये पॉच नियम हैं। इन दसों के अनुसार विचार–आचरण करना धर्म है। समग्र वेद एवं स्मृतिवेत्ताओं ने शील, आचार और आत्मसंतोष को धर्म के साक्षात् लक्षण कहे हैं।

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' तथा **'आत्मवत् सर्वभुतेषु'** अर्थात् जो व्यवहार स्वयं के लिए उचित न हो उसे दूसरों के साथ नहीं करना चाहिए और सभी प्राणियों को आत्मवत् समझना चाहिए। ये धर्म के मौलिक तत्त्व हैं। मनु ने दस मानवीय गुणों को धर्म कहा है। ये हैं –धृती, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध। महाभारत में भीष्मपितामह ने धर्म के नौ लक्षण बतायें हैं– क्रोध न करना, सत्य बोलना, धन बॉटकर भोगना, समभाव रखना, अपनी पत्नी से ही सन्तान

उत्पन्न करना, बाहर तथा भीतर से पवित्र रहना, किसी से द्रोह न करना, सरल स्वभाव रखना और भरण–पोषण योग्य व्यक्तियों का पालन करना।

उपर्युक्त सभी गुणों को विद्वानों ने मनुष्य के सामान्य धर्म के रूप में निर्दिष्ट किया है। विपत्ति के समय अपेक्षित धर्म अनुपालन का निर्देश दिया है। अर्थात् एक वर्ण के सदस्य आपत्तिकाल में दूसरे वर्ण के धर्म को अपना सकते थे। ब्राह्मण क्षत्रिय का, क्षत्रिय वैश्य का और वैश्य शूद्र का धर्म अपना सकता था। इसे आपद्धर्म कहा गया था।

5.4.2 अर्थ

अर्थ का अभिप्राय उन सभी उपकरणों अथवा भौतिक साधानों से है, जो व्यक्ति को समस्त सांसारिक सुख उपलब्ध कराते हैं। मनुष्य को अपने जीवन में अनेक प्रकार के कर्तव्य और उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। यह अर्थ उपार्जन धर्म के माध्यम से ही करने के लिए निर्देशित किया गया है। साधारणतः व्यक्ति सुख–सुविधा और यश – ऐश्वर्य का आंकाक्षी होता है। वह भौतिक सुख के प्रति अत्यधिक आकर्षित रहता है।

धन को काम और धर्म का आधार माना गया है। इससे स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त होता है। धर्म–स्थापन के लिए अर्थ अनिवार्य है, क्योंकि इसी से प्राप्त सुविधा द्वारा धार्मिक कृत्य किये जा सकते हैं। जो धन से हीन है वह धर्म से भी, क्योंकि समस्त धार्मिक कार्यों में धन की अपेक्षा की जाती है। अर्थविहीन व्यक्ति ग्रीष्म की सूखी सरिता के समान माना गया है। अर्थ के बिना जीवनयापन असम्भव है। अर्थ सम्पन्न व्यक्ति के पास मित्र, धर्म, विद्या, गुण क्या नही होता? दूसरी ओर अर्थहीन व्यक्ति मृतक अथवा चाण्डाल के समान है। इस प्रकार धन(अर्थ) ही जगत् का मूल है। प्राचीनकालीन अधिकांश विचारकों ने अर्थ की महत्ता, आवश्यकता और उपादेयता सिद्ध की है। कौटिल्य ने अर्थ को धर्म और काम का आधार माना है। व्यक्ति का धन– संग्रह धार्मिक आधार पर होना चाहिए। अधार्मिकता और अन्याय से अर्जित भौतिक सुख और धन–सम्पत्ति का फल दुखद होता है तथा धर्म–व्यय करना भी निन्दनीय माना जाता है। धर्म को हानि पहुंचा सकने वाला अर्थ का त्याग करना श्रेयस्कर था। मनु के अनुसार अगर अर्थ और काम धर्म–विरूद्ध है तो उनको छोड़ देना चाहिए।

5.4.3 काम

'काम' मनुष्य का तीसरा पुरुषार्थ है। काम भावना और इन्द्रिय–सुख काम के प्रधान लक्ष्य हैं। व्यक्ति की समस्त कामानाएं, वासनाजन्य प्रवृत्तियाँ तथा आसक्ति–मूलक वृतियाँ काम के अन्तर्गत आती हैं। काम के ही वशीभूत होकर व्यक्ति एक दूसरे से प्रेम

और सम्भोग करता है तथा अपने प्रियजनों के प्रति आकृष्ट होता है। वस्तुतः 'काम' में कामना और वासना दोनों का सन्निवेश है। मनुष्य की स्वाभाविक और सहज स्थितियाँ, जिनमें क्रमशः स्नेह, प्रेम, वात्सल्य, अनुराग, सौन्दर्य–प्रियता और आकर्षण है तथा इन्द्रिय–सुख और यौन सम्बन्धी इच्छाओं की तृप्ति है। अगर देखा जाय तो सन्तान–प्राप्ति, परिवार और वशं की निरन्तरता तथा पितृ–श्रृण से मुक्ति 'काम' के ही कारण है। काम के वशीभूत होकर धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। काम धार्मिक नियमों, संयमों के अनुरूप होना चाहिए। कौटिल्य ने बिना धर्म और अर्थ को बाधा पहुंचाए इसका पालन करने के लिए निर्देश दिया है। गृहस्थ जीवन की सार्थकता काम के माध्यम से सन्तान उत्पन्न करके मानी गई है। इससे अक्षय स्वर्ग और ऐहिक सुख प्राप्त होता है।

5.4.4 मोक्ष

मनुष्य के पुरुषार्थ की अन्तिम और चरम परिणति 'मोक्ष' है। अपने जीवन के समस्त कार्य सात्विकता और सफलतापूर्वक सम्मन्न करने के बाद मनुष्य वृद्धावस्था में इस चरम उद्‌देश्य मोक्ष की प्राप्ति में संलग्न होता है। जन्म और पुनर्जन्म के बन्धन से छुटकारा तथा इस संसार के आवागमन से मुक्ति ही मोक्ष है। मोक्ष आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम और उच्चतम आदर्श माना गया है। मोक्ष की प्राप्ति पूर्णरूपेण आध्यात्मिक और धार्मिक होने पर ही सम्भव कही गई है। आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य ही मोक्ष तथा परम आनन्द की चरमानुभूति है। जीव परम ब्रह्म में लीन होकर तथा आवागमन के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। आत्मा सीमित है तथा परमात्मा असीम। मोक्ष ससीम और असीम में एकात्मकता स्थापित करता है।

अभ्यास प्रश्न –1

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए –

1. मूल्य शब्द कैसे बनता है?
2. मूल्य के लिए प्रयुक्त समानार्थी शब्द कौन–कौन से हैं?
3. पुरुषार्थ का शाब्दिक अर्थ क्या है? ये कितने हैं?
4. धर्म के मूल कार्य क्या है?
5. पितृ ऋण से मुक्ति का कारण क्या है?
6. भारतीयसंस्कृति में जीवन का उच्चतम आदर्श किसे माना गया है?

5.5 वर्णाश्रम व्यवस्था

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वृञ्' वरणे धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'चुनना' या 'वरण करना'। सम्भवतः 'वर्ण' से तात्पर्य 'वृत्ति' या किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से है। समाज शास्त्रीय भाषा में 'वर्ण' का अर्थ 'वर्ग' से है, जो अपने चुने हुए विशिष्ट व्यवसाय से आबद्ध है।

वर्ण–व्यवस्था के उत्पत्ति से सम्बन्धित दैवी सिद्धान्त के अनुसार विराट् पुरुष के अङ्गों से चारो वर्णो की उत्पत्ति हुई है। मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। वास्तव में यह श्रम विभाजन का रूपात्मक वर्णन है। वर्ण का अर्थ रंग भी होता है। आर्य श्वेत वर्ण के और आर्येतर कृष्ण वर्ण के थे। रंग के आधार पर आर्य एवं अनार्य अथवा शूद्र दो ही वर्ण थे। पुनः आर्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य तीन वर्ण हो गये इसके पीछे क्या सिद्धान्त था यह स्पष्ट नहीं है। गुणों के आधार पर वर्ण–व्यवस्था के अनुसार सत्वगुण की प्रधानता वाले वर्ण ब्राह्मण हैं, जिनमें रजोगुण की प्रधानता है वे क्षत्रिय हैं और जिनमें रजस् और तमस् की प्रधानता होती है वो वैश्य हैं। केवल तमस् गुण की प्रधानता वाले शूद्रवर्ण हैं। वर्ण–व्यवस्था के विकास में उपर्युक्त मतो ंका योगदान रहा होगा। वर्ण विभाजन पहले व्यक्तिगत एवं मुक्त था। वर्ण–परिवर्तन सरल और सम्भव था, जो बाद में धीर–धीरे जटिल होता गया। पुराणों में भी कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है तथा यह माना गया है कि पूर्व जन्म के कर्मों के परिणामस्वरूप ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए।

5.5.1 ब्राह्मण

समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च था। विराट् पुरुष के मुख से उत्पन्न होने के कारण उसकी विशिष्टता स्वयं सिद्ध थी। मुख्य रूप से उसके छः कर्म थे – वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। अपनी तपश्चर्या और साधना से वह समाज के लोगों को सन्मार्ग और सद्भाव का मार्गदर्शन कराता था। अपने सदाचरण और सच्चरित्रता से वह नैतिकता की स्थापना करता था तथा समाज में सत्य, अहिंसा, शौच और सदाचारिता का वातावरण निर्मित करता था। पुरोहित के रूप में वह राजा को विभिन्न प्रकार की सलाह देता था। युद्धभूमि में राजा और सेनापति के अतिरिक्त राजपुरोहित भी होता था, जो अपने राजा की विजय के निमित्त देव स्तुति करता था तथा यज्ञ सम्पन्न करता था। चारो वर्णों में दान प्राप्त करने वाला वही एकमात्र सुपात्र था, जिसने अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक ज्ञान के बल पर यह विशेष स्थिति प्राप्त की थी। मनुष्य कभी–कभी विपरीत परिस्थितियों के कारण स्वधर्म का पालन न कर सकने के कारण अपना जीवन–यापन नहीं कर सकता था। ऐसे संकट और विपत्ति के समय में उसके लिए वर्णेतर कर्म की व्यवस्था की गयी थी। ब्राह्मण के लिए भी ऐसा विधान था। वह अध्यापन करने, यज्ञ सम्पन्न कराने और दान प्राप्त करने से अपना और अपने परिवार का पालन कर सकने में असमर्थ होता था तो क्षत्रिय और वैश्य के कर्म भी अपना सकता था।

5.5.2 क्षत्रिय

देश और समाज की रक्षा क्षत्रिय ही करते थे। उनका कार्य प्रायः युद्ध–पराक्रम और शौर्य प्रदर्शित करना था, इसलिए ऐसे वीर और पराक्रमी वर्ग को 'क्षत्रिय' कहा

गया। क्षत्रियों का मुख्य गुण शौर्य, शासन और सैन्य संचालन था। ब्राह्मणों के समान ही क्षत्रियों को अध्ययन–अध्यापन का अधिकार था, किन्तु यज्ञ कराने का अधिकार नहीं था। कौटिल्य के अनुसार क्षत्रिय का प्रमुख कर्म अध्ययन करना, यज्ञ करना, शस्त्र ग्रहण करना और भूतरक्षण करना था। मनु ने क्षत्रिय के लिए व्यवस्था दी है कि वह प्रजा की रक्षा करे, दान दे, यज्ञ करे, वेद पढ़े और विषयों में आसक्त न हो। राज–व्यवस्था के स्वामी के रूप में क्षत्रिय को समाज में उच्चस्तरीय प्रतिष्ठा प्राप्त थी। सांसारिक दृष्टि से वह सर्वाधिक शक्तिशाली वर्ग था। समाज में कुछ ऐसे कार्य थे, जो क्षत्रियों के लिए वर्जित थे। वेद पढ़ाने, यज्ञ कराने और दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्णों का था। प्राचीन युग के अनेक क्षत्रिय शासकों ने पढाने का भी कार्य किया था। हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने क्षत्रियों के लिए यह व्यवस्था दी थी कि संकट काल में वे अपने से नीचे वर्ण के कर्म अपना सकते थे। कभी–कभी ऐसी स्थिति होती थी कि व्यक्ति जब अपने वर्ग के कर्म करते हुए भी अपने परिवार का पोषण कर सकने में असमर्थ होता था, तब वह अपनी आजीविका चलाने के लिए दूसरे वर्ण के कार्य करता था। पारिवारिक संकट की स्थिति में क्षत्रिय व्यापार और वाणिज्य भी कर सकता था। वह व्यापार करते समय सभी प्रकार के रस, तिल,नमक, पत्थर और मनुष्य का क्रय–विक्रय नहीं कर सकता था।

5.5.3 वैश्य

अर्थ–सम्बन्धी नीतियों का सारा संचालन वैश्य वर्ग करता था। अध्ययन, यजन और दान उसका परम कर्त्तव्य था। पाणिनि ने वैश्य के लिए 'अर्थ' शब्द का प्रयोग किया है। कौटिल्य के अनुसार उसका प्रधान कर्म अध्ययन करना, यज्ञ करना और दान देना था। कालान्तर में वैश्य ने अध्ययन त्यागकर अपने को पूर्णरूप से व्यापार और वाणिज्य में लगाया। गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि अध्ययन, यजन, दानादि के कर्मों को त्यागकर वैश्य कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद जैसे धनार्जन के कार्यों में तल्लीन हो गये। महाभारत में भी कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यों के स्वाभाविक कर्म माने गये हैं। कौटिल्य ने भी अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वैश्यों का कर्म बताया है। महाभारत के अनुसार वैश्यों का प्रमुख ध्येय धनार्जन करना था। मनु के अनुसार पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना और कृषि करना वैश्यों के कर्म थे। ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की तरह वैश्यों को भी आपत्तिकाल में दूसरे वर्ण का कर्म करने की छूट प्राप्त थी। युद्ध–कर्म और सैनिक–वृत्ति मुख्यतः क्षत्रियों का कर्म था, किन्तु धर्मशास्त्रकारों द्वारा यह व्यवस्था दी गई थी कि गौ, ब्राह्मण और वर्ण की रक्षा के लिए वैश्य भी शस्त्र ग्रहण कर सकता था।

5.5.4 शूद्र

चारो वर्णों में यह चतुर्थ वर्ण था। विराट् पुरुष के पैर से इसकी उत्पत्ति

मानी गयी थी। सावयव कल्पना के आधार पर यह समाज का अविभाज्य अङ्ग था। स्मृतियों के अनुसार प्रथम तीन वर्णों की सेवा करना ही इनका कार्य एवं आजीविका थी। इनका एक मात्र आश्रम गार्हस्थ्य था। धर्मशास्त्रों में जिन षट्कर्मो का विधान किया गया है – पठन–पाठन, यजन–याजन, दान –प्रतिग्रह आदि उनमें से शूद्र को वैदिक मन्त्रों को छोड़कर अन्य विद्या के पठन, मन्त्रों से रहित यजन और दान देने का अधिकार प्राप्त था। सेवा इनका विशेष कार्य था। इस प्रकार शूद्र स्वतन्त्र श्रमिक थे, जो किसी भी वर्ण का व्यक्ति हो सकता था। मनु के पूर्व सूत्रकालीन समाज में शूद्रों की दशा अत्यन्त संकुचित और दयनीय थी। वे अनार्य और दास के सम्मिलत रूप थे। महाकाव्य काल में उनकी दशा में कुछ सुधार हुआ। समाज में उनका आदर और सत्कार आरम्भ हो चुका था। महाभारत से ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर ने अपने राजसूय यज्ञ में शूद्र प्रतिनिधियों को भी आमन्त्रित किया था। वाणिज्य–व्यापार उद्योग और पशुकर्म करने के लिए उन्हें अनुमति मिल गयी थी। यज्ञ सम्पन्न करने के लिए भी उन्हें स्वीकृति मिल गयी थी। उन्हें काष्ठशिल्प, धातुशिल्प, भांडशिल्प, चित्रकला आदि कर्मों का सम्पादन करने की अनुज्ञा दी गयी। जो विभिन्न शिल्पों से सम्बद्ध होकर समाज में प्रतिष्ठित था। उनके पेशे और शिल्प कालान्तर में आनुवांशिक हो गये। उस युग में ऐसी शिल्पप्रधान अनेक जातियॉ बन गयी थीं तथा तन्तुवाय(बुनकर), तक्षक(बढई), कम्मार(कर्मार या लोहार), दन्तकार, कुम्भकार(कुम्हार) आदि विभिन्न व्यवसाय के अनुसार अनेक वर्ग भी बन गये थे। पुराणों में शूद्रों को दान देने तथा इन्द्रिय–निग्रह के साथ मोक्ष–प्राप्ति का भी उल्लेख किया गया है। पतित ब्राह्मण ,क्षत्रिय, और वैश्य से विशुद्ध मन और मस्तिष्क वाला शूद्र श्रेष्ठ था। अगर सेवा–वृत्ति से उनकी जीविका नहीं चल पाती थी तो व्यापार, पशुपालन और विभिन्न उद्योग–धन्धे अपनाने का निर्देश था।

5.6 आश्रम

आश्रम शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के श्रम् धातु से हुई है। जिसका अर्थ है परिश्रम या प्रयास करना। अतः आश्रम वे स्थान हैं, जहॉ प्रयास किया जाय। मूलतः आश्रम जीवन की यात्रा में एक विश्राम स्थल है जहॉ आगे की तैयारी की जाती है। इसका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष तक पहुॅचना होता है। वर्णव्यवस्था का सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज के लिए था और आश्रम का सिद्धान्त व्यक्ति के लिए था। चारो आश्रम ब्रह्मचर्य ,गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास तथा चारो पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष, इनके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है।

5.6.1 ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम में धर्म की शिक्षा दी जाती है। ब्रह्मचर्य शब्द ब्रह्म और चर्य दो शब्दों से मिलकर बना है। ब्रह्म का अर्थ है वेद अथवा महान तथा चर्य का अर्थ है विचरण या अनुसरण करना। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ है –विद्याध्ययन के मार्ग पर

चलना। इसका प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता है। इस संस्कार के पश्चात् ही ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश मिलता था। शास्त्रों में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनो वर्णों के उपनयन संस्कार का वर्णन मिलता है। स्त्रियों का भी उपनयन का अधिकार था, जिससे ज्ञात होता है कि उन्हें भी वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था। वेदाध्ययन की समाप्ति के बाद समावर्तन संस्कार होता था। ब्रह्मचारी गुरुकुल में रहकर विभिन्न विषयों का अध्ययन करता था एवं नियमित रूप से भिक्षाटन करता था। वह सूर्योदय के पूर्व उठता था। दिन में तीन बार स्नान करता था। प्रातः एवं सायंकाल सन्ध्या करता था। वह केवल दो बार भोजन करता था। उसके लिए नृत्य, गान, सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग, स्त्रियों की संगति सब कुछ वर्जित थे। वह सदाचार व सचरित्रता का पालन करता था। विद्वान् कहते हैं कि इससे ब्रह्मचारी की मनः स्थिति का विकास होता था तथा भिक्षावृत्ति से उसमें विनम्रता का भाव जागृत होता था। ब्रह्मचारी द्वारा अंहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि का पालन करने से उसके व्यक्तित्व का विकास होता था। वह ज्ञान पिपासु, अंहिसक, सत्यभाषी, सच्चरित्र, गुरु, सेवक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष से रहित होकर सात्विक जीवन व्यतीत करता था। विद्यार्थी के ब्रह्मचर्य की अवधि प्रायः बारह वर्ष की होती थी। तब तक वह पच्चीस वर्ष की आयु को प्राप्त हो जाता था। ब्रह्मचारी दो प्रकार के बताये गये हैं। उपकुर्वाण और नैष्ठिक, उपकुर्वाण विद्यार्थी वे थे जो विवाह से पूर्व तक गुरुकुल में रहकर विद्या ग्रहण करते और गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए घर की ओर लौटते । नैष्ठिक ब्रह्मचारी आठ वर्ष में उपनयन संस्कार से लेकर 48 वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत करते हुए 56 वर्ष तक अध्ययनरत रहते थे। कभी–कभी वे जीवन पर्यन्त गुरु के समीप रहकर अध्ययन करते थे और अन्त में इन्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती थी। इन्हें अन्तेवासी कहा जाता था। अध्ययन की समाप्ति के पश्चात् ब्रह्मचारी स्नान करता था। यह अध्ययन के अन्त का सूचक था। तत्पश्चात् वह स्नातक कहा जाता था तथा अगले आश्रम में प्रवेश के योग्य बन जाता था।

5.6.2 गृहस्थ आश्रम

गृहस्थ आश्रम सभी आश्रमों में सबसे महत्त्वपूर्ण आश्रम माना गया है। इसकी अवधि 25 से 50 वर्ष तक मानी गयी है। गृहस्थ आश्रम में रहकर ही मनुष्य अपने व्यक्तिगत, सामाजिक धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि विभिन्न कर्त्तव्यों का पालन करता था। गुरुकुल से लौटने के पश्चात् विवाहोपरान्त वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। शास्त्रों में गृहस्थ के कर्त्तव्य हैं – अपने धर्म के अनुकूल जीविकोपार्जन करना, विधिपूर्वक विवाह करना, विवाहिता पत्नी से ही सम्बन्ध रखना, देवों, पितरों एवं सेवकों आदि को खिलाने के बाद बचे हुए अन्न को ग्रहण करना। इस आश्रम में ज्ञान योग की तुलना में कर्मयोग को प्रधानता दी गई है। गृहस्थ आश्रम में ही गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णछेदन, विद्यारम्भ, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि आदि सभी संस्कार सम्पन्न किये जाते थे।

गृहस्थ आश्रम में ही मनुष्य तीन ऋणों से मुक्ति प्राप्त करता था। ये ऋण हैं – देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण। यज्ञ इत्यादि धार्मिक अनुष्ठानों के द्वारा देवताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करके देव ऋण से मुक्ति पाई जाती थी। विधि पूर्वक वेदों का अध्ययन करने से ऋषि ऋण से मुक्ति मिलती थी तथा धर्मानुसार सन्तानोत्पत्ति करके व्यक्ति पितृऋण से मुक्त होता था। उपर्युक्त तीनों ऋणों से मुक्त होना मनुष्य का परम

कर्तव्य माना गया था। उसके बिना मोक्ष सम्भव नहीं था। गृहस्थ आश्रम में रहते हुए मनुष्य को पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करना अनिवार्य था। ये पञ्चमहायज्ञ थे – ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। ब्रह्मयज्ञ के माध्यम से व्यक्ति ऋषियों की वेदज्ञता और उनकी अद्भूत मेधा का स्मरण कर वैदिक मन्त्रों का पाठ करके बौद्धिक उत्कर्ष को प्राप्त करता था। पितृयज्ञ के अन्तर्गत पितरों का तर्पण, बलिहरण अथवा श्राद्ध इत्यादि कर्म सम्पन्न किये जाते थे।

देवयज्ञ में देवताओं का पूजन, बलि, घृत आदि विभिन्न सामग्रियों से अग्नि में आहुति दी जाती थी। यह यज्ञ पत्नी के बिना सम्भव नहीं था इसलिए विवाहित होकर गृहस्थ बननाआवश्यक था। यज्ञ में आहुति देते समय विभिन्न देवताओं के नाम के साथ स्वाहा उच्चरित किया जाता था। भूतयज्ञ के माध्यम से विघ्नकारी और अनिष्टकारी प्रेतात्माओं की तुष्टि के लिए बलि प्रदान की जाती थी। बलि भाग को अग्नि में न डालकर विभिन्न दिशाओं में रखा जाता था, जिसे सभी प्राणी ग्रहण कर सकें। बलि देने की भावना श्रेष्ठ मानी गई थी।

नृयज्ञ को अतिथि यज्ञ भी कहा गया है। अतिथि की यथा शक्ति सेवा करना और उसे भोजन प्रदान करना प्रत्येक गृहस्थ का परम कर्तव्य माना गया है। अतिथि को देवता के रूप में देखा जाता था। इस प्रकार तीन ऋण तथा पाँच महायज्ञ गृहस्थाश्रम में व्यक्ति को लौकिक तथा पारलौकिक सुख देने वाले थे। गृहस्थाश्रम में धर्मसंगत आचरण करता हुआ मनुष्य अर्थ एवं काम की प्राप्ति तथा उपभोग करता था। यह साधना किसी अन्य आश्रम में सम्भव नहीं थी। इसलिए प्राचीन धर्मशास्त्र गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हैं।

5 6.3 वानप्रस्थ (वैखानस) आश्रम

गृस्थाश्रम के कर्तव्यों को भली–भाँति पूर्ण कर लेने के बाद मनुष्य वानप्रस्थ में प्रवेश करता था। वह अपने कुल, गृह एवं ग्राम को त्याग कर वन में संयमित जीवन व्यतीत करता था। वानप्रस्थ जीवन में मनुष्य का मूल उद्येश्य आध्यात्मिक उत्कर्ष और समस्त भौतिक स्पृहाओं से मुक्ति पाना था। वह इस जीवन में तप, त्याग, अहिंसा और ज्ञान का अर्जन करता था। शरीर की शुद्धि और तपस्या की वृद्धि के लिए वह संयमित और कठोर जीवन का अनुपालन करता था। वानप्रस्थी को वेदों का अध्ययन करना सबके लिए मैत्री भाव रखना, मन को वश में रखना तथा सभी जीवों पर दया करने का व्रत लेना पड़ता था। वह दिन में दो बार स्नान और होम का अनुष्ठान करता था। वह पञ्चमहायज्ञों का सम्पादन करता था। वह जंगली कन्दमूल फल को ग्रहण करता था तथा जंगल में प्राप्त चर्म, कुश तथा कास आदि से अपना परिधान बनाता था। वह भूमि तल पर शयन करता हुआ ब्रह्मचर्य का पालन करता था। इस प्रकार का जीवन जीने से वह मोक्ष की ओर अग्रसर होता था। अपने शरीर को घोर कष्ट देना और कठोर संयम से तपाना वानप्रस्थ जीवन का प्रधान नियम था।

5.6.4 सन्यास आश्रम

यदि मनुष्य बानप्रस्थ आश्रम को पार कर लेता तब वह अन्तिम आश्रम सन्यास में

प्रवेश करता था। सन्यासी का भिक्षु, यति, परिवाट् और परिव्राजक भी कहा गया है। इस आश्रम की अवधि 75 से 100 वर्ष तक की मानी गई है। संन्यास आश्रम का मूल लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना था, इसलिए वह राग, द्वेष और माया से विरत पूर्ण एकाकी जीवन व्यतीत करता था। महाभारत में कहा गया है कि वह अग्नि, धन, पत्नी और सन्तान के प्रति हमेशा अनासक्त रहे। वह आसन, वस्त्र, शैया आदि सुख के साधनों का त्याग करके सदा भ्रमणशील रहे। कांचन और पाषाण, शत्रु और मित्र सभी उसकी दृष्टि में एक समान हों। संन्यासी के लिए निर्दिष्ट था कि वह सदा भ्रमणशील रहे। एक गॉव में एक रात्रि और नगर में पॉच रात्रियों से अधिक नहीं ठहर सकता था। वह सदा ब्रह्म के ध्यान में लीन रहे तथा योगासनों में बैठा हुआ अपेक्षा से रहित केवल शरीर मात्र की सहायता प्राप्त मोक्ष को चाहने वाला तथा उसे दिन में एक बार ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। सन्यास का प्रचलन प्रायः ब्राह्मणों में अधिक था क्षत्रियों एवं वैश्य के सन्यासी होने का कोई विवरण नहीं है। विदुर के सन्यासी होने का विवरण एकमात्र अपवाद है। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम जीवन की एक अवस्था है, जिसमें रहकर व्यक्ति एक निश्चित अवधि तक प्रशिक्षण प्राप्त करता है। प्राचीन विद्वानों ने चतुराश्रम व्यवस्था के माध्यम से प्रवृति एवं निवृत्ति के आदर्शो में समन्वय स्थापित किया है।

अभ्यास प्रश्न – 2

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें –

1. दैवी सिद्धान्तों के अनुसार............. के अङ्गों से चारो वर्गों की उत्पत्ति हुई है।
2. ब्राह्मण अपने.............और................ से नैतिकता की स्थापना करता था।
3. ऐसे वीर और ....वर्ग को क्षत्रिय कहा गया।
4. अर्थ–सम्बन्धी नीतियों का सारा सञ्चालन.....................वर्ग करता था।
5. सावयव कल्पना के आधार पर यह समाज का .... अङ्ग था।
6. आश्रम शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के ....धातु से हुई है।
7. ब्रह्मचर्य आश्रम में..................की शिक्षा दी जाती है।
8. ....सभी आश्रमों में सबसे महत्त्वपूर्ण आश्रम माना गया है।
9. वह दिन में दो बार.............. और................ होम करता था।
10. संन्यास आश्रम का मूल लक्ष्य...................... को प्राप्त करना था।

5.7 नीतिग्रन्थों में मूल्य (विदुर, शुक्र एवं चाणक्य)

नीति शब्द संस्कृत के नी धातु से क्तिन् प्रत्यय जोड़कर बना है। अनुचित मार्ग से उचित मार्ग पर ले जाने की क्रिया को नीति कहते हैं। किसी भी मार्ग अथवा कर्म को अनुचित कहने के दो आधार हैं। एक अनुचित वह होता है– जो जिसके लिए विहित नहीं है उसके द्वारा किया जाना। उदाहरणार्थ पुलिस द्वारा किया जाने वाला कार्य सामान्य जनता के लिए विहित नहीं है। दूसरे प्रकार का अनुचित वह है जो सभी के लिए निषिद्ध है। जैसे – चोरी , हत्या इत्यादि।

मनुष्यों द्वारा अनुचित मार्ग पर चलने के दो कारण होते हैं – अज्ञान और आसक्ति। सज्जन एवं दुर्जन व्यक्ति दोनों ही कुमार्ग का अवलम्बन कर सकते हैं। परन्तु दोनों के अवलम्बन का आधार भिन्न हो सकता है। सज्जन व्यक्ति

अज्ञानवश एवं दुर्जन व्यक्ति आसक्तिवश कुमार्ग अपनाता है। नीतिशास्त्र में वर्णित मूल्य मानव की संवेदनाओं की कसौटी है।

विदुर –

महाभारत में महात्मा विदुर ने व्यक्तिगत आचरण में कुछ मूल्यों के समावेश को अनिवार्य माना है। उनके अनुसार 'सत्य' ही एकमात्र सोपान है जिसके द्वारा श्रेष्ठ जीवन जीया जा सकता है। सत्य से ही धर्म की रक्षा होती है। **'सत्येन रक्ष्यते धर्मः।'** मनुष्य को सत्य का त्याग कभी नहीं करना चाहिए। सत्य को धर्म माना गया है। सत्य के साथ–साथ व्यक्ति में क्षमा का गुण भी होना चाहिए। क्षमा करने वाले को दुर्बल समझ लिया जाता है, जबकि क्षमा बहुत बड़ा बल है। क्षमा असमर्थ मनुष्यों का गुण तथा समर्थ मनुष्यों का आभूषण है। क्षमा से सभी प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं।

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैकाशान्तिरुत्तमा।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा।।

केवल धर्म ही कल्याण का मार्ग है, क्षमा ही शान्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है, विद्या ही परम सन्तोष देने वाली है। एकमात्र अहिंसा ही सुखदायी है। इसलिए मनुष्य को सत्य,दान,कर्मण्यता, अनसूया, क्षमा तथा धैर्य आदि गुणों का त्याग नहीं करना चाहिए। जो मनुष्य बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रिय संयम, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, मितभाशी, दान तथा कृतज्ञता आदि मूल्यों का पालन करता है। वह व्यक्ति समाज में यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। जो मनुष्य विपत्ति में भी धैर्य धारण करता है तथा कर्म करता रहता है और सभी दुःखों को सह लेता है। उसके शत्रु अवश्य पराजित होते हैं। मनुष्य को दम्भ, मोह, मात्सर्य, पापकर्म, राजद्रोह, पिशुनता (चुगलखोरी) आदि से दूर रहना चाहिए, उसे कभी भी दुर्जनों से विवाद नहीं करना चाहिए तथा धर्म, अर्थ एवं काम का संग्रह क्रोध या भावावेश में नहीं करना चाहिए लेकिन परिश्रमपूर्वक सच्चे मार्ग से किया जाने वाला कार्य यदि असफल भी हो जाये तो मनुष्य को ग्लानि नहीं करनी चाहिए। महात्मा विदुर की उद्घोषणा है कि सदाचरण एवं मूल्याधारित जीवन जीने वाला निम्न वर्ण में पैदा होकर भी उच्च वर्ण वाले व्यक्ति से श्रेष्ठ है –

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति में मतिः।

अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते।। महाभारत 34149

जिसका चरित्र नष्ट हो जाता है वह शीघ्र ही विनाश को प्राप्त करता है। जीवन में सुखी रहने के लिए इन्द्रियों को वश में रखना परम अनिवार्य है। मनुष्य का शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है तथा इन्द्रियॉ उसके घोड़े हैं। इनको वश में रखने वाला मनुष्य, घोड़ों पर नियन्त्रण रखने वाले सारथी की भॉति सुखी रहता है और नियन्त्रण न रखने वाला मनुष्य वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे मूर्ख सारथी को घोड़े मार्ग से गिराकर मार डालते हैं।

नीयन्ते प्राप्यन्ते लभ्यन्ते धर्मानुसारेण अभीष्टानि कार्याणि यया सा नीतिः

अर्थात् जिसके द्वारा धर्मानुसार अभीष्ट प्रयोजनों की प्राप्ति की जाती है, वह नीति है।

परोपकारी, सत्यवादी, मृदु , जितेन्द्रिय आदि गुणों से युक्त पुरुष उत्तम पुरुष कहा गया है। अप्रिय और हितकारी बचन बोलने वाले और सुनने वाले दोनो दुर्लभ हैं।

अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।

मनुष्य को चारों पुरुषार्थो का पालन समयानुसार करना चाहिए। अर्थ की सिद्धि चाहने वाले को पहले धर्म का आचरण करना चाहिए।

शुक्र

शुक्रनीति के रचयिता शुक्राचार्य ने भी पुरुषार्थों को महत्त्वपूर्ण मूल्य स्वीकार किया है तथा यथा सम्भव उसको प्राप्त करने का निर्देश दिया है। सामान्य व्यक्ति इनके विरोध से बचते हुए, मध्यमार्गी होकर सभी कार्यों में इनका अनुसरण करें।

राजा हो अथवा साधारण नागरिक सभी को धर्मानुसार आचरण करना चाहिए।

शरीर के अङ्ग–प्रत्यङ्गो को स्वस्थ रखना चाहिए, सुगन्ध इत्यादि के साथ महौषधियों को धारण करते हुए उज्ज्वल वेश बनाना चाहिए। श्रेष्ठ जीवन जीने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को शरीर के मल–मूत्रादि वेग को रोक कर कोई कार्य नहीं करना चाहिए। दुष्टों की संगति से दूर रहना चाहिए तथा मित्रों से प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। अन्यथा काम (अवैध रीति से मैथुन), पैशुन्य (चुगलखोरी), निष्ठुर भाषण, झूठ व्यवहार, अशिष्टता, नास्तिकता आदि दुष्कर्मों का शरीर, वाणी एवं मन से त्याग कर देना चाहिए। निर्धनों की सहायता एवं समस्त प्राणियों के साथ समान व्यवहार करना तथा शत्रु के साथ भी उपकार करना चाहिए।

अन्य किसी का उत्कर्ष देखकर ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। व्यक्ति को अहंकारशून्य, प्रसन्न वदन (मुख), मधुरभाषी होना चाहिए। शुक्राचार्य ने नैतिक मूल्यों के साथ–साथ जीवनमूल्यों पर भी बल दिया है। जैसे – स्वच्छतापूर्वक रहना चाहिए। शारीरिक अङ्गों को तोड़ना, मरोड़ना नहीं चाहिए। कठिन आसन में अधिक देर तक नहीं बैठना चाहिए। अत्यधिक थकान होने से पूर्व ही मन शरीर एवं वाणी के कार्य रोक देने चाहिए। देर तक ऊकडू नहीं बैठना चाहिए। सूर्य को निरन्तर नहीं देखना चाहिए। सिर पर बोझ नहीं उठाना चाहिए। मनुष्य को प्रतिदिन अपने अच्छे एवं बुरे कार्यों का आकलन करना चाहिए। इससे वह अपने बुरे कर्मों का त्याग तथा अच्छे कर्मों को स्वीकार करके सुखी रहता है। सेवा परम धर्म है इसलिए माता–पिता, गुरु, राजा, देवता, अग्नि, तपस्वी एवं ज्ञानवृद्ध लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करनी चाहिए। पूर्ण अभ्युदय की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को कार्यकुशल होना चाहिए। चरित्रवान् होने के साथ–साथ ही अन्य व्यक्तियों की पूर्ण बातों को सुनकर और समझकर कार्य करना चाहिए। मर्मभेदी, अश्लील तथा कटु बचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

चाणक्य

आचार्य चाणक्य के अनुसार धर्म एवं अर्थ दोनों पुरुषार्थों का अत्यधिक महत्त्व है। धनोपार्जन के साथ दानशीलता भी आवश्यक है। यह दान श्रेष्ठ लोगों को दिया जाना चाहिए। जिसप्रकार समुद्र का खारा जल मेघों के मुख में जाकर मधुर हो

जाता है और पृथ्वी पर जड़ चेतन सभी को जीवन प्रदान करता है, उसी प्रकार गुणवान् व्यक्तियों को दिया गया धन श्रेष्ठ कार्यों में व्यय होता है। चाणक्य ने विद्याप्राप्ति को अनिवार्य माना है। विद्याविहीन व्यक्ति सुन्दर और कुलीन होते हुए भी टेशू के फूल के समान शोभारहित है। विद्या कामधेनु के समान सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाली है। प्रवास में माता के समान हितकारिणी है। अतः विद्या को गुप्तधन कहा जाता है।

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकालेफलदायिनी।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तंधनंस्मृतम्।।

जो माता–पिता अपने बच्चों को शिक्षा प्रदान नहीं करते वे साक्षात शत्रु के समान हैं। इसलिए विद्यार्थी को सुख का परित्याग करके विद्या ग्रहण करनी चाहिए। और जो सुख की कामना करते हैं उन्हें विद्या प्राप्ति की इच्छा नहीं करनी चाहिए। विद्यार्थियों को काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, श्रृङ्गार, मनोरंजन, अतिनिद्रा एवं चापलूसी इत्यादि से दूर रहना चाहिए। पृथ्वी पर सत्य से बड़ा कोई मूल्य नहीं है। सत्य से ही पृथ्वी टिकी है, सूर्य प्रकाशित होता है, वायु प्रवाहित होता है। सबके मूल में सत्य ही है। जीवन में सर्वदा श्रेष्ठ लोगों की संगति करनी चाहिए। परोपकार की भावना रखनी चाहिए। सत्य ही मनुष्य की माता, ज्ञान पिता, धर्म भ्राता, दया भगिनी, शान्ति भार्या, क्षमा पुत्र के समान सच्चे बन्धु बान्धव हैं। व्यक्ति को अपने धन , विद्या, कुल इत्यादि पर अभिमान नहीं करना चाहिए। धर्म में तत्परता, मुख में मधुरता, दान में उत्साह, मित्रों के साथ निष्कपटता, गुरु के प्रति विनम्रता, अन्तःकरण में उदारता, आचरण में प्रवित्रता, गुणों में रुचि, शास्त्रों में विज्ञता तथा परमात्मा में भक्ति इत्यादि मूल्यों को धारण करने वाले मनुष्य ही श्रेष्ट कहे जाते हैं।

अभ्यास प्रश्न – 3

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर हॉ या ना में दीजिए –

1. सत्य से धर्म की रक्षा होती है।

उच्च वर्ण में पैदा होकर निम्न आचरण करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ है।

2. दुष्टों की संगति से दूर रहना चाहिए तथा मित्रों से प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए।
3. अन्य किसी की बात नहीं सुननी चाहिए केवल मनमानी करनी चाहिए।
4. जो माता–पिता बच्चों की शिक्षा पर ध्यान नहीं देते हैं वे ही परम हितैषी हैं।
5. चाणक्य ने सत्य को माता, ज्ञान को पिता, धर्म को भ्राता, दया को भगिनी, शान्ति को भार्या, क्षमा को पुत्र कहा है।

5.8 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके होगें कि मूल्य वे गुण हैं जो समाज में विकसित होते हैं तथा मनुष्य को मनुष्यता प्रदान करते हैं। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चारो पुरुषार्थ भी मूल्य हैं। धर्म का अर्थ है – सदाचरण, अर्थ का तात्पर्य है– जीने

के भौतिक साधन, काम का अर्थ है – सन्तानोत्पत्ति इत्यादि पारिवारिक सुख तथा मोक्ष का अभिप्राय है – जीवन के सभी बन्धनों से मुक्ति। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण का कर्तव्य है – ज्ञानार्जन एवं ज्ञान प्रदान करना, यज्ञ करना, कराना तथा दान देना एवं लेना, क्षत्रिय तीनों वर्णों की सुरक्षा का दायित्व ग्रहण करता है। वैश्य पर समाज के पोषण का तथा शूद्र पर सेवा का दायित्व था। आश्रम व्यवस्था मनुष्य के जीवन को चार भागों में बॉटती है। जैसे – ब्रह्मचर्य में विद्यार्जन एवं चरित्र निर्माण, गृहस्थ में परिवार निर्माण एवं सामाजिक दायित्व का निर्वाह, वानप्रस्थ में आत्मशोधन तथा सन्यास में मोक्ष के लिए साधना करना। महात्मा विदुर, शुक्र एवं चाणक्य आदि आचार्यों ने पुरुषार्थों को परम मूल्य मानकर उनकी प्राप्ति की योग्यता प्राप्त करने पर बल दिया है। इसके अतिरिक्त सत्य, अहिंसा, विनम्रता, गुरुजनों की सेवा, ज्ञानार्जन आदि मूल्यों को भी महत्त्वपूर्ण माना है।

5.9 पारिभाषिक शब्दावली

मानदण्ड	मूल्यों की कसौटी या प्रतिमान
मोक्ष	संसार के आवागमन से मुक्ति
धर्म	कर्त्तव्य
नीति	ले जाना
धृति	धैर्य
अपरिग्रह	सञ्चय न करना
दम	इन्द्रियों का दमन करना
अस्तेय	चोरी न करना
साध्य	लक्ष्य
साधन	लक्ष्य प्राप्त करने का साधन

5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1–

1. संस्कृत के मूल धातु के साथ यत् प्रत्यय के संयोग से।
2. आदर्श, मान, मानक, मानदण्ड प्रतिमान, नार्म, सिद्धान्त एवं पुरुषार्थ।
3. पुरुषार्थ–पुरुष द्वारा प्राप्त करने योग्य। ये चार हैं –धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष।
4. धर्म के मूल कार्य – (क) नियन्त्रण (ख) व्यक्ति का उत्थान (ग) मोक्ष के लिए व्यक्ति को सन्नद्ध करना।
5. काम
6. मोक्ष

अभ्यास प्रश्न 2

1. विराट् पुरुष
2. सदाचरण, सच्चरित्रता

3. पराक्रमी
4. वैश्य
5. अविभाज्य
6. श्रम
7. धर्म
8. गृहस्थ आश्रम
9. स्नान, होम
10. मोक्ष

अभ्यास प्रश्न 3

(1) हॉ (2) नहीं (3) हॉ (4) नहीं (5) नहीं (6) हॉ

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. महाभारत, वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर
2. मनुस्मृति, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
3. हिन्दुधर्म कोश, डॉ0 राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
4. मूल्यपरक शब्दावली का विश्वकोश, सम्पादक–धर्मपाल सिंह मैनी, चण्डीगढ़।
5. विदुर नीति, गीताप्रेस, गोरखपुर
6. शुक्र नीति, चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी।
7. चाणक्य नीति, तुलसी साहित्य पब्लिकेशन, मेरठ।
8. राष्ट्रगौरव, पर्यावरण एवं मानवाधिकार अध्ययन,नीलकमल प्रकाशन, गोरखपुर।
9. हिन्दुधर्म जीवन में सनातन की खोज, विद्यानिवास मिश्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली।

5.12 सहायक एवं उपयोगी पुस्तकें

1. मूल्यपरक शब्दावली का विश्वकोश, सम्पादक–धर्मपाल सिंह मैनी, चण्डीगढ़।
2. हिन्दुधर्म कोश, डॉ0 राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
3. विदुर नीति, गीताप्रेस, गोरखपुर।
4. शुक्र नीति, चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी।

इकाई – 6 पाश्चात्य परम्परा में मूल्य

इकाई की रूपरेखा :

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में मूल्य की अवधारणा

6.3.1 सुखवाद

6.3.2 उपयोगितावाद

6.3.3 पूर्णतावाद

6.3.4 कांट का नैतिक चिन्तन

6.4 अस्तित्ववाद में मूल्य की अवधारणा

6.5 सारांश

6.6 पारिभाषिक शब्द

6.7 अभ्यास हेतु प्रश्न

6.1 प्रस्तावना :

प्रथम खण्ड की इकाईयों में हमने विस्तार से मानव स्वरूप को भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टि से समझने का प्रयास किया। 'मूल्य' का प्रश्न मानव स्वरूप की अवधारणा से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

'मूल्य' शब्द जिसे अंग्रेजी में Value कहा जाता है 'मूल' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ जड़ या स्रोत होता है। ज्ञान या इससे सम्बन्धित अन्य संदर्भो में जब हम केवल सतही दृष्टि तक सीमित न रहते हुए समस्या के तह, जड़ तक जाने का प्रयास करते हैं तो वह न केवल कठिन बल्कि प्रतिफल युक्त भी होता है। लेकिन जब सम्बन्धित प्रश्न की सत्ता से जुड़ा हो तब तो जड़ तक पहुँचने की यात्रा और भी कठिन एवं प्रतिफल युक्त हो जाती है। 'सत्ता' के विपरीत किसी 'वस्तु' के तह तक पहुँचने का प्रयास भले ही ज्ञानात्मक दृष्टि से शिक्षाप्रद हो लेकिन नैतिक दृष्टि से यह सदैव उन्नत नहीं होती। सामान्य रूप से विज्ञान तथा विशेष रूप से भौतिकी व्यापक अर्थ में ''वस्तुओं'' के जगत से सम्बन्धित हैं और इससे वस्तुजगत को समझने में सहायता प्राप्त हुई है। इसके विपरीत नीतिशास्त्र जिसे अंग्रेजी में 'Ethics' कहते है, की उत्पत्ति ग्रीक शब्द एथिकास (Ethikos) से हुई है जिसका अर्थ 'कालजयी परम्परा' है। दूसरे शब्दों नीतिशास्त्र या एथिक्स उस 'परम्परा' को जानना चाहता है जो देश–काल की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। संस्कृत शब्द 'स्वधर्म' (अनिवार्य अधिष्ठान या आत्मा) सत्ता से जुड़ा है। लेकिन अंग्रेजी भाषा में वस्तु/सत्ता का विवाद एक प्रकार से द्वैतवाद की झलक देता है, मानो ''वस्तुओं का संसार मूल्य रहित है'' लेकिन जब हम संस्कृत भाषा के माध्यम से इस विवाद का विश्लेषण करते हैं तो हमें यह बोध होता है कि यह द्वैत मिथ्या हैं क्योंकि वस्तु एवं सत्ता दोनों का मूल एक ही है।

6.2 उद्देश्य :

इस इकाई में हम पश्चिम के कतिपय प्रमुख नेतिक सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए यह जानने का प्रयास करेंगे कि उन्होंने अपनी नैतिक विवेचना में मनुष्य के किस आयाम को प्रमुखता दी है तथा इस प्रमुखता ने उनके विचारों को क्या स्वरूप प्रदान किया है।

नीतिशास्त्र प्रमुख रूप से मनुष्य के व्यवहार को निर्देशित करने वाले आदर्श मूलक सिद्धान्तों की विवेचना करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह सामान्य रूप से समाज की प्रचलित परम्पराओं का पालन बिना उचित–अनुचित, सही–गलत की विवेचना किये करता है। लेकिन जब हम परम्पराओं का विश्लेषण किसी तर्क, व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में करते हैं तभी हम नीतिशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश करते है और हम नैतिक कथनों, व्यवहारों में एक सम्बन्ध, व्यवस्था या तार्किकता की तलाश करते हैं जिसमें हमारी जीवन एवं जगत के प्रति दृष्टि–तत्त्वमीमांसा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इस विवेचना से जो नीतिशास्त्र हमारे समक्ष आता है उसे नियामक या परम्परागत नीतिशास्त्र कहा जाता है।

6.3 पाश्चात्य चिंतन में मूल्य की अवधारणा :

नीतिशास्त्र में 'मूल्य' शब्द का क्या अर्थ है? नैतिक दृष्टि से मूल्य मानव जीवन में क्या महत्व रखता है? 'मूल्य' शब्द की कोई सर्वमान्य परिभाषा करना अत्यंत दुष्कर हैं क्योंकि विभिन्न परिप्रेक्ष्य में इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। सामान्य रूप से मूल्य शब्द से किसी भौतिक वस्तु अथवा उस मानसिक अवस्था के उस गुण का बोध कराता है जिसके द्वारा मनुष्य की किसी आवश्यकता, कामना या इच्छा की तृप्ति होती है। स्पष्ट है कि ऐसी सभी वस्तुएँ या मानसिक अवस्थाएँ जिनसे मनुष्य की किसी न किसी इच्छा या आवश्यकता की पूर्ति होती है, उन सभी को मूल्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। 'मूल्यों' का अस्तित्व इस प्रकार अंततोगत्वा मानवीय आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति पर निर्भर है। इनके अभाव में 'मूल्य' की कोई कल्पना निरर्थक और असम्भव है। प्रकारान्तर से हम कह सकते है कि मनुष्य की इच्छाओं और आवश्यकताओं की अनुपस्थिति में किसी वस्तु या मानसिक अवस्था का कोई 'मूल्य' नहीं हो सकता है।

पुनः मनुष्य के लिए सभी वस्तुएँ समान रूप से 'मूल्यवान' नही होती क्योंकि कुछ

को केवल 'साधन रूप' में और कुछ को 'साध्य रूप' में मूल्यवान माना जा सकता है। इस दृष्टि से 'मूल्यों' की विवेचना दो प्रकार (अ) साधन मूल्य (ब) एवं 'साध्य मूल्य' के रूप में की जा सकती है। साधन मूल्यों को 'परतः मूल्य' एवं साध्य मूल्यों को 'स्वतः मूल्य' भी कहा जाता है। 'साधन मूल्य' ऐसी वस्तुएँ होती है जो स्वयं में शुभ न होकर किसी अन्य वस्तु के साधन के रूप में ही शुभ होती है जैसे भोजन, वस्त्र, मकान, धन, दौलत आदि। मार्क्स के शब्दों में इनकी उपयोगिता मनुष्य की 'प्राकृतिक सत्ता' की दृष्टि से मानी जा सकती है। इन्हें 'शारीरिक मूल्य' अथवा आर्थिक मूल्य भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त 'साधन मूल्यों' के अतिरिक्त कुछ ऐसे मूल्य भी मनुष्य के लिए स्वीकृत है जिन्हें 'साध्य मूल्य' कहा जाता है। भौतिक वस्तुओं के विपरीत मनुष्य की कुछ मानसिक अवस्थाएँ किसी वस्तु के साधन के रूप में शुभ न होकर अपने आपमें शुभ एवं स्वतः साध्य होती है। इनकी शुभता परिणामों से निर्धारित नही होती बल्कि स्वतः सिद्ध होने के कारण वांछनीय होती है। इन्हीं स्वतः साध्य मानसिक अवस्थाओं से सम्बन्धित मूल्यों को ही 'साध्य मूल्य' कहा जाता है। प्रश्न है कि मनुष्य की वे कौन सी मानसिक अवस्थाएँ जो स्वतः शुभ एवं वांछनीय है? इस प्रश्न का कोई सर्वमान्य उत्तर देना अत्यंत कठिन है क्योंकि विभिन्न चिंतकों ने अपने–अपने ढंग से ऐसी मानसिक अवस्थाओं का उल्लेख किया है जो अपने आप में शुभ है। प्लेटो तथा अरस्तू ने दार्शनिक ज्ञान या चिंतन को स्वतः साध्य माना है जबकि बेन्थम, मिल, सिजविक जैसे दार्शनिकों ने 'सुख' या 'आनन्द' को स्वतः शुभ माना है। इन सभी से भिन्न कांट ने 'शुभ संकल्प' को ही स्वतः शुभ एवं वांछनीय माना है। इसी तरह सुन्दर वस्तुओं के प्रत्यक्ष एवं पारस्परिक मैत्री एवं स्नेह में निहित आनन्द को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। भारतीय मनीषियों ने 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्'–'सत्य, कल्याण, सौन्दर्य को स्वतः साध्य मूल्य माना

है। स्पष्ट है कि मूल्यों का निर्धारण नीतिशास्त्र का एक प्रमुख विषय है और विभिन्न विचारधाराओं ने अपने–अपने ढंग से इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि मूल्यों का अविर्भाव कैसे होता है? तथा उनका स्वरूप क्या है?

6.3.1 सुखवाद

सुखवाद का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वार्थवाद है। इसलिए स्वार्थवाद की विवेचना करते हुए सुखवाद को समझने का प्रयास होगा।

'स्वार्थवाद' जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, 'यह व्यक्ति के अपने हित या लाभ को महत्व देता है।' बटलर ने इसे 'आत्मप्रेम के सिद्धान्त' के रूप में निरूपित कर इसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। इस दृष्टि से मनुष्य के किसी भी कार्य के उचित या अनुचित होने का निर्णय, करने वाले के व्यक्तिगत काम या हित के संदर्भ में किया जा सकता है। जिस कार्य से करने वाले का हित सिद्ध होता हो वह शुभ या उचित है अन्यथा वे अशुभ या अनुचित है। स्वार्थवाद को सामान्य रूप से दो वर्गो में विभाजित किया गया है–नैतिक स्वार्थवाद और मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद।

नैतिक स्वार्थवाद के अनुसार ऐसे सभी कार्य जिससे व्यक्ति को लाभ मिलता हो उचित है तथा जिससे उसे लाभ न मिलता हो वे अनुचित है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को कोई भी कार्य करने के पूर्व केवल और केवल अपने हित का ध्यान रखना चाहिए। ऐसा भी सम्भव है कि व्यक्ति को दूसरो की भलाई करने में भी अपना लाभ दिखाई दें तो ऐसी स्थिति में दूसरे के काम आना भी व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है। इसलिए इस सिद्धान्त में विश्वास रखने वाला परोपकार, सहानुभूति, नम्रता, सत्यनिष्ठा आदि को भी अपने हित का साधन बना सकता है। नैतिकता का मौलिक आधार केवल व्यक्तिगत हित या आत्मप्रेम न होकर परोपकार एवं सामाजिक कल्याण है जिसे यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं करता। इसलिए मनुष्य के कर्त्तव्य एवं उसके कर्मो के औचित्य को सिद्ध करने के लिए जो कसौटी यह सिद्धान्त देता है उसे नैतिक आदर्श के रूप में स्वीकार करना कठिन है क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति यदि परोपकार भी करता है तो इसी दृष्टि से करता है जिससे उसका हित पूरा हो सके। यह सिद्धान्त व्यावहारिक बुद्धिमत्ता की दृष्टि से तो ठीक है लेकिन यह नैतिकता से बहुत दूर है।

उपर्युक्त नैतिक स्वार्थवाद के समर्थन हेतु जिस मानव–स्वभाव सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है उसे **मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद** कहते है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य मूलतः स्वार्थी एवं सदैव अपने ही हित की बात सोचने वाला है। प्रत्येक व्यक्ति सदैव अपने ही कल्याण या हित की कामना करता है तथा ऐसे ही कार्य करने को तत्पर रहता है जिसमें उसका हित या कल्याण हो सके। इस सिद्धान्त का समर्थन हाब्स एवं श्लिक ने किया है। मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद के आधार पर नैतिक स्वार्थवाद का समर्थन करने में तार्किक विसंगतियाँ भी है। मनोवैज्ञानिक तथ्य इससे सम्बन्धित होते है कि मनुष्य क्या करता है, जबकि नैतिक निर्णय इससे सम्बन्धित होते है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए। इतना ही नही यदि यह मान भी लिया जाय कि मनुष्य स्वभावतः केवल अपने–अपने कल्याण, हित को सिद्ध करने वाले ही कार्य करने को बाध्य है तो

यह कहना भी वस्तुतः निरर्थक होगा कि उसे केवल अपने हित को दृष्टिगत रखते हुए कोई कार्य करना चाहिए।

सुखवाद उस नैतिक चिंतन को कहते है जो सुख को ही मानव जीवन का परमध्येय–शुभ मानता है और 'सुख की इच्छा' को ही मनुष्य के समस्त कर्मो की एकमात्र मूल प्रेरणा के रूप में स्वीकार करता है। सुखवाद के भी दो भेद है–नैतिक सुखवाद एवं मनोवैज्ञानिक सुखवाद। जो सिद्धान्त यह मानता है कि मनुष्य के लिए सुख या आनन्द के अतिरिक्त कोई वस्तु अपने आप में शुभ नही है उसे नैतिक सुखवाद तथा जो यह मानते है कि मनुष्य के समस्त कर्म सुख प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा से प्रेरित है उन्हें मनोवैज्ञानिक सुखवाद कहा जाता है।

सुख क्या है? इस प्रश्न का कोई सर्वमान्य एवं सुनिश्चित उत्तर देना अत्यंत कठिन है। यद्यपि हम सभी अपने जीवन में सुख का अनुभव करते है तथा उसे दुःख से भिन्न भी मानते है लेकिन जब इसे परिभाषित करने का मौका आता है तो हमें कठिनाई का सामना करना पड़ता है। सामान्यतः ''शारीरिक पीड़ा तथा मानसिक कष्ट के अभाव को दुख कहा जा सकता है।'' सुख की यह परिभाषा निषेधात्मक है क्योंकि इसमें सुख को केवल दुःख के अभाव के रूप में समझा गया है। सुख को वांछनीय अनुभूति के रूप में भी स्वीकार किया है। सुख को जीवन का आनन्द नहीं माना जा सकता है यद्यपि दोनों ही मूलतः संतोष देने वाली अनुभूतियाँ हैं। इन्द्रिय संवेदनों एवं प्राकृतिक इच्छाओं के पूर्ण होने पर उत्पन्न अनुभूति, सुख कही जा सकती है जबकि आनन्द का सम्बन्ध मनुष्य की प्राकृतिक शारीरिक इच्छाओं की अपेक्षा उसके मानसिक, बौद्धिक पक्ष से अधिक होता है। इसलिए आनन्द, सुख की अनुभूति की तुलना में कम तीव्र लेकिन स्थायी अनुभूति है।

6.3.2 उपयोगितावाद :

जो सिद्धान्त मनुष्य के वैयक्तिक सुख या हित के स्थान पर अधिकतम व्यक्तियों के सुख या हित को ही मनुष्य के सभी कर्मो की कसौटी मानता है उसे सर्वार्थमूलक सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वैयक्तिक सुख के स्थान पर अधिकतम व्यक्तियों के लिए ''अधिकतम उपयोगिता' को समस्त मानवीय कर्मो के मूल्यांकन का एकमात्र कसौटी है। बेन्थम, मिल एवं सिजविक आदि चिंतकों ने इस सिद्धान्त का समर्थन एक दूसरे के विचारों से पूर्णतः सहमत न होते हुए भी किया। कतिपय प्रमुख चिंतकों के विचारों की विवेचना निम्नलिखित रूप में की जा सकती है :

बेंथम को उपयोगितावाद का प्रमुख प्रवर्तक माना जाता है। उनके अनुसार कानून सामान्य लोगों के कल्याण के महत्वपूर्ण साधन है। उनके अनुसार वही कानून या नियम न्यायसंगत या उचित होते है जो सामाजिक उपयोगिता की कसौटी पर खरे उतरते है। बेंथम कहते है कि किसी कार्य या नियम की उपयोगिता उससे प्राप्त होने वाले सुख पर निर्भर होती है। दूसरे शब्दों में जो नियम या कार्य सुख की उत्पत्ति एवं वृद्धि में जितना अधिक सहायक होता है वही उपयोगी माना जा सकता है। इसलिए इस सिद्धान्त को 'सुखमूलक उपयोगितावाद' की संज्ञा से अभिहित भी किया जाता है।

स्पष्टतः यह सिद्धान्त 'मनोवैज्ञानिक सुखवाद' पर आधारित है जो मनुष्य के सभी कर्मो के प्रमुख प्रयोजन का उत्तर देता है। मनुष्य वही कार्य करने को प्रेरित होता है जिसमें उसे अधिक से अधिक सुख प्राप्त हों तथा दुःख से बचाव हो सके। बेंथम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के समस्त कार्यो का एकमात्र प्रयोजन स्वयं के लिए अधिकतम सुख प्राप्त करना है। हाब्स के समान वे भी मनुष्य को मूलतः स्वार्थी मानते है। इसलिए केवल सुख ही स्वयं में शुभ एवं वांछनीय है तथा शेष वस्तुएँ–गुण या मानसिक अवस्थाएँ सुख के साधन रूप में ही शुभ एवं वांछनीय होती है। सत्य, शिव एवं सुन्दर, ईमानदारी जैसे नैतिक सद्‌गुण भी सुख के साधन के रूप में ही शुभ है न कि स्वयं में शुभ है।

यदि सुख ही समस्त मानवीय कर्मों के शुभत्व को निर्धारित करने की कसौटी है तो जिस कार्य से जितना ही सुख मिलता है उसे उतना ही शुभ माना जा सकता है। बेन्थम ने सुख को मापने के लिए, उसकी मात्रा या परिमाण पर जोर दिया है क्योंकि गुणात्मक दृष्टि से सभी सुख समान होते है; किसी भी सुख को दूसरे की तुलना में उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं माना जा सकता है। सुख के परिमाण को मापने के लिए बेन्थम द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त को 'सुख–कलन' कहा जाता है। इसके अनुसार सुख की कमी या अधिकता को–तीव्रता, अवधि, निश्चितता, निकटता, उत्पादकता, शुद्धता एवं व्यापकता–इन सात तत्त्वों द्वारा मापा जा सकता है। यही तत्त्व सुख की मात्रा के साथ–साथ उसकी वांछनीयता को भी सुनिश्चित करते है।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम के सुखमूलक उपयोगितावाद को विकसित एवं अधिक तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत करते का कार्य किया। उनकी दृष्टि में भी कोई कर्म उसी अनुपात में शुभ या अशुभ होता है जिस अनुपात में उससे प्राप्त होने वाले सुख या दुख की उत्पत्ति होती है। सुख ही स्वतः साध्य है एवं एकमात्र शुभ है तथा शेष अन्य सभी उसके साधन के रूप में ही शुभ एवं वांछनीय है। मिल भी बेन्थम के समान स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद को स्वीकार नहीं करते है तथा ***व्यक्ति के सुख के स्थान पर अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को ही मनुष्य के समस्त नैतिक कर्त्तव्यों का आधार मानते है।*** दूसरे शब्दों में उपयोगिता ही नैतिकता का मूल आधार है।

6.3.3 पूर्णतावाद :

सुखवाद एवं उपयोगितावाद मनुष्य की शारीरिक, मानसिक इच्छाओं, वासनाओं एवं आवश्यकताओं को केन्द्र में रखते हुए उसके कर्त्तव्यों का निर्धारण करता है लेकिन मनुष्य का जीवन मात्र इन्हीं स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा ही निर्धारित नही होता, क्योंकि बुद्धि या विवेकशीलता भी उसके जीवन की प्रमुख विशेषता है जो उसके कर्मो को निर्धारित करती है या कर सकती है। इसलिए मनुष्य के कर्त्तव्यों को केवल शारीरिक या मानसिक प्रवृत्तियों एवं आवश्यकताओं के आधार पर ही सुनिश्चित नही किया जा सकता है। हीगल, ग्रीक एवं ब्रैडले जैसे प्रत्ययवादी चिंतकों ने मनुष्य के कर्त्तव्य की विवेचना हेतु पूर्णतावाद या आत्मपूर्णतावाद का प्रतिपादन किया।

प्रत्ययवादी दार्शनिकों के अनुसार मनुष्य मूलतः एक आत्म प्रबुद्ध, विवेकशील प्राणी है, चेतना उसका मुख्य स्वरूप है। स्वयं को जानना, पहचानना ही उसके जीवन का प्रमुख लक्ष्य है जिसमें उसे बुद्धि एवं विवेक की सहायता प्राप्त होती है। इन दार्शनिकों के अनुसार समाज में रहते हुए मनुष्य को अपनी सभी शक्तियों के अधिकतम विकास के लिए निरंतर प्रयत्न करते रहना चाहिए क्योंकि इसी में उसकी वास्तविक 'आत्मपूर्णता' निहित है। भले ही यह सिद्धान्त मनुष्य के स्वतंत्र व्यक्तित्व और उसकी आत्मपूर्णता को सर्वाधिक महत्व देता है लेकिन यह स्वार्थवाद से मूलतः भिन्न है क्योंकि इन दार्शनिकों के अनुसार समाज के व्यापक हित में ही अंततोगत्वा व्यक्ति का हित निहित होता है। व्यक्ति को व्यापक सामाजिक कल्याण के एक अंश के रूप में ही अपने व्यक्तिगत हित या कल्याण हेतु प्रयास करना चाहिए क्योंकि समाज में रहकर ही व्यक्ति का वास्तविक कल्याण सम्भव है।

आत्मपूर्णतावाद मनुष्य की स्वार्थमूलक एवं पदार्थमूलक दोनों प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। मनुष्य के जीवन में विवेक या बुद्धि के साथ–साथ उसकी इच्छाओं एवं भावनाओं को भी उचित महत्व प्रदान करके यह सिद्धान्त बुद्धिवाद एवं सुखवाद इन दोनों विरोधी सिद्धान्तों में निहित सत्यों को भी स्वीकार करता है। यह सिद्धान्त न तो सिनिक्स तथा स्टोइक की भांति मनुष्य के जीवन में बुद्धि की एकमात्र महत्ता स्वीकार करते है और न ही सैरेनैक्स की भाँति केवल शारीरिक, ऐन्द्रिक इच्छाओं की तृप्ति में उसका कल्याण देखते है।

6.3.4. कांट का नीतिशास्त्र :

पिछली उपइकाईयों में स्वार्थवाद, सुखवाद एवं उपयोगितावाद के रूप में जिन नैतिक विचारों का उल्लेख किया गया है, वे सभी परिणाम सापेक्ष एवं इंद्रियानुभव पर आधारित है। इन सभी सिद्धान्तों में एक बात पर सहमति दिखाई देती है कि मनुष्य के वही कर्म नैतिक माने जा सकते है जिनसे मनुष्य को 'सुख' की प्राप्ति हो और दुःख का निषेध हो, दूसरे शब्दों में ऐसे सभी कर्म जो मनुष्य के लिए 'उपयोगी' हो, उसे सुख प्रदान करने में सहायक हो, उन्हें ही नैतिक दृष्टि से 'उचित' या 'शुभ' माना जा सकता है। कांट परिणाम सापेक्ष नैतिक दृष्टि का निषेध करते है और इसके स्थान पर परिणाम निरपेक्ष नैतिक दृष्टि को सामने रखते हैं। कांट के सिद्धान्त को निरपेक्ष आदेश का सिद्धान्त' या कर्त्तव्य मूलक सिद्धान्त भी कहा जाता है।

कांट ने मानवीय ज्ञान के स्रोत, सीमा एवं वैधता के प्रश्न से अपने चिंतन का प्रारम्भ किया और 'संश्लेषणकर्त्ता' के रूप मनुष्य के वास्तविक स्वरूप–आत्मा की विवेचना किया। मनुष्य को अपने स्वरूप का बोध ज्ञानात्मक प्रक्रिया के निष्कर्ष–संश्लेषणकर्त्ता के रूप में होता है और उसी क्षण उसे इंद्रिय प्रदत्तों के संश्लेषित स्वरूप–वस्तु का ज्ञान होता है। ठीक इसी तरह मनुष्य के कर्त्तव्यों का निर्धारण करने के पूर्व कांट यह जानना चाहते है कि ऐसी कौन सी वस्तु है जो स्वयं में शुभ एवं वांछनीय है तथा जिसकी शुभता देश, काल, परिस्थितियों, मनुष्य की भावनाओं या इच्छाओं पर निर्भर नहीं है दूसरे शब्दों में जो सर्वत्र एवं सर्वदा निरपेक्षतः शुभ है। कांट के अनुसार 'शुभ संकल्प' ही निरपेक्ष एवं बिना किसी शर्त के शुभ होता है।

6.4 अस्तित्ववाद में मूल्य की अवधारणा –

अस्तित्ववाद के अनुसार मानव स्वरूप की विवेचना ''अस्तित्व सार का पूर्वगामी है'' सिद्धान्त के आधार पर की गयी है एवं वस्तुओं से इसके मौलिक अंतर को स्पष्ट किया गया है। वस्तुयें जहाँ ढ़ली–ढ़लाई सत्ता होती है जिनका सार तत्त्व–विशेषतायें आदि पहले से ज्ञात होती है, वही मनुष्य पहले होता है फिर सत्तावान व्यक्ति के रूप में जब वह निर्णय लेता है, कार्य करता है, चुनाव करता है तो उसी के द्वारा उसके सार तत्त्व (स्वभाव, विशेषता) का निर्माण होता है। यदि मनुष्य का सार तत्त्व भी वस्तुओं के समान पहले से ज्ञात होता तो वह भी वस्तु के समान ही एक सत्ता होता और तब मनुष्य में किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता, मौलिकता, रचनात्मकता एवं कल्पनाशीलता की कोई सम्भावना नही रह जाती।

अस्तित्ववाद मनुष्य को वस्तुओं से मूलतः पृथक मानता है और मनुष्य की व्याख्या हेतु सर्वथा नये सूत्र की खोज करता है और मानव जीवन को समझने के लिए ''सभी सार तत्त्ववादी व्याख्याओं'' का निषेध करता है और विकल्प के रूप में अस्तित्ववादी व्याख्या प्रस्तावित करता है। अस्तित्ववाद के अनुसार अभी तक दार्शनिक चिंतकों ने मनुष्य को समझने के लिए सार तत्त्ववादी व्याख्याओं का ही सहारा लिया है चाहे वे प्रत्ययवादी चिंतक हो या वस्तुवादी। दोनों ही यह मानते है कि मनुष्य का सार तत्त्व पहले से ज्ञात है–चेतना या जड़ वस्तु के रूप में।

प्रत्ययवादी चिंतक विशेष रूप से हीगल यह मानते है कि मनुष्य निरपेक्ष सत्ता के विकास का एक चरण है; अर्थात् मनुष्य की सत्ता इस निरपेक्ष चित्त की सत्ता का साझीदार है। मनुष्य एवं निरपेक्ष सत्ता का सार तत्त्व एक है, मनुष्य को यदि स्वयं को जानना, समझना है तो ऐसा वह निरपेक्ष सत्ता के नियमों का अनुसरण करके ही कर सकता है। मनुष्य के खास अपने जीवन को परिभाषित करने की कोई छूट नही है क्योंकि वह निरपेक्ष सत्ता से बंधी सत्ता है।

इसी तरह भौतिकवादी दर्शनों में भी मनुष्य की विशिष्टता के लिए कोई स्थान नही है क्योंकि इस दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण विश्व एक मशीनी व्यवस्था हैं, प्रकृति का संचालन एक विशाल मशीन के रूप में होता है तथा सब कुछ एक मशीनी व्यवस्था द्वारा संचालित होता है। मनुष्य भी इसी मशीनी व्यवस्था का एक अंग है और उस पर भी यही व्यवस्था लागू होती है। मनुष्य भी उतना ही कर सकता है जितना इस व्यवस्था में उसके लिए पहले से सुनिश्चित है। यहाँ भी प्रत्ययवाद के ही समान मनुष्य का परिभाषित स्वरूप है जहाँ सब कुछ पूर्व निर्धारित होता है। सार्त्र यह मानते है कि सारतत्त्ववादी व्याख्याओं में मनुष्य को उसकी विशिष्टता में समझने का कोई प्रयास नही हुआ है। मनुष्य की सत्ता को किसी सार्वभौम सिद्धान्त में विलीन कर दिया जाता है। मनुष्य की स्वतंत्रता का अपहरण करके उसे वस्तु के रूप में स्थापित कर दिया जाता है। इसीलिए सार्त्र इनका निषेध करते हुए अस्तित्ववाद का प्रतिपादन करते है और मनुष्य को अपने सारतत्त्व एवं जीवन के लिए उत्तरदायी मानते है क्योंकि इसी से उसकी गरिमा सुनिश्चित हो सकती है।

6.5 सारांश

उपर्युक्त विश्लेषण को संक्षेप में निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है–

'मूल्य' शब्द किसी भौतिक वस्तु या मानसिक अवस्था के उस गुण का बोध कराता है जिसके द्वारा मनुष्य की किसी आवश्यकता, कामना या इच्छा की तृप्ति होती है। मूल्यों का अस्तित्व मानवीय आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति पर निर्भर है, दूसरे शब्दों में मूल्यों का प्रश्न अनिवार्य रूप में मानव स्वरूप की अवधारणा से जुड़ा प्रश्न है।

मानव स्वरूप सम्बन्धी विभिन्न विचार धाराएँ हमें दिखाई देती है (जिसकी विस्तृत विवेचना प्रथम खण्ड के विभिन्न इकाईयों में हुयी हैं) इसलिए मूल्य सम्बन्धी विभिन्न विचार नीतिशास्त्र में दिखायी देते है।

नीतिशास्त्र मानवीय व्यवहार का अध्ययन मूल्यों की दृष्टि से करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिए नीतिशास्त्री मानवीय व्यवहार के अध्ययन एवं विश्लेषण से एक ऐसे वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त तक पहुँचना चाहता है जिसके अनुसार चलने से समाज में सामंजस्य एवं समरसता का भाव कायम रहें।

6.6 पारिभाषिक शब्द

मूल्य

किसी भौतिक वस्तु अथवा मानसिक अवस्था के उस गुण को 'मूल्य' की संज्ञा दी जाती है जिसके द्वारा मनुष्य की किसी आवश्यकता, कामना या इच्छा की पूर्ति होती है।

नीतिशास्त्र

ज्ञान का वह अनुशासन जो हमें यह बताता है कि हम किन नियमों, सिद्धान्तों या आदर्शो के आधार पर किसी कर्म को उचित या अनुचित एवं किसी व्यक्ति तथा उसके चरित्र को शुभ या अशुभ अच्छा या बुरा कह सकते है।

नियामक नीतिशास्त्र

जब हम केवल नियमों, सिद्धान्तों या आदर्शो का वर्णन ही नही करते है बल्कि उन नियमों, सिद्धान्तों या आदर्शो की कसौटी के आधार पर व्यक्ति के किसी आचरण को उचित–अनुचित, शुभ–अशुभ के रूप में मूल्यांकन भी करते हैं तो इस नैतिक चिन्तन को नियामक नीतिशास्त्र की संज्ञा दी जाती है।

6.7 अभ्यास हेतु प्रश्न :

1. मनुष्य के कर्तव्यों का निर्धारण किस आधार पर होता है?

(अ) नैतिकता

(ब) अनैतिकता

(स) ज्ञान

(द) माया

2. 'एथिक्स' शब्द की उत्पत्ति किस भाषा से हुई है?

(अ) लैटिन

(ब) स्पेनिश

(स) यूनानी

(द) अंग्रेजी

3 नीतिशास्त्र विवेचना करता है :

(अ) समाज के व्यवहार का

(ब) वस्तुओं के व्यवहार का

(स) मनुष्यों के व्यवहार का

(द) उपर्युक्त सभी का

4 मनुष्य के कौन से कार्य नैतिक विश्लेषण के अन्तर्गत आते है?

(अ) ऐच्छिक कर्म

(ब) अनैच्छिक कर्म

(स) ज्ञानात्मक कर्म

(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं है।

5 नीतिशास्त्र में 'मूल्य' किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है?

(अ) स्वतः साध्य मूल्य

(ब) साधन मूल्य

(स) साध्य मूल्य

(द) उपर्युक्त सभी।

6 कुछ विचारकों के अनुसार मूल्य होते हैः

(अ) परिणामकारी

(ब) परिणाम निरपेक्ष

(स) परिणाम सापेक्ष

(द) उपर्युक्त सापेक्ष

खण्ड तीन

मूल्यों का ह्रास – कारण एवं निदान

खण्ड प्राक्कथन

प्रथम दो खण्डों में आपने मानव प्रकृति और मूल्य की अवधारणा के विषय में पढ़ा। इस खण्ड में हम व्यावहारिक जीवन की प्रमुख कठिनाई, मूल्यों के ह्रास, के कारणों एवं उनके निदान की सम्भावनाओं पर विस्तार से विचार करेंगे। आप स्वयं देखेंगे कि इस खण्ड की शैली प्रथम दो खण्डों से कुछ भिन्न है। पूर्व के खण्ड वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार करते हैं, इसलिए उनकी शैली मूलतः दार्शनिक है। यह खण्ड व्यावहारिक धरातल की पड़ताल करता है, अतः शैली साहित्य की है, जहाँ जीवन का सतरंगी इन्द्रधनुष दैदीप्यमान है।

हमारे मनीषियों ने मनुष्यों का चार कोटियों में वर्गीकरण किया है – आचार्य, पण्डित, सामान्यजन तथा अल्पबुद्धि। हमारी प्राचीन ज्ञानसम्पदा का साहित्य भी चार कोटियों में उपलब्ध है – वेद, उपनिषद्, पुराण तथा महकाव्य। जहाँ वेद एवं उपनिषद् का संधान गुरू के सानिध्य में प्रखर बुद्धि के शिष्यों द्वारा ही सम्भव है, वहीं पुराणों के कथा–प्रतीकों की विवेचना सामान्यजन की उन्नत सुबुद्धि के लिए सुलभ है। महाकाव्यों का रसास्वादन तो पण्डित से लेकर खेतों में काम करने वाली निरक्षर स्त्रियों तक सभी के लिए अनेकों स्तर पर ग्राह्य है।

मूल्यों का ह्रास केवल आधुनिक भौतिकवादी समाज की विभीषिका नहीं है; यह तो सृष्टि की गति में शाश्वत रूप से विद्यमान है। जैसे प्रकाश के क्रमशः लोप में अन्धकार की सत्ता स्थापित है, वैसे ही धर्म के क्रमशः लोप में मूल्यह्रास का प्रादुर्भाव होता है। भारतीय साहित्य में मूल्यह्रास का जितना विशद वर्णन महाभारत में है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं है। इसी प्रकार पश्चिमी साहित्य में ऐडम और ईव के दो पुत्रों केन और एबेल की कथा है, जिसमें ज्येष्ठ पुत्र केन अपने अनुज एबेल की हत्या करता है। इस कथा का वर्णन बाइबिल और कुरान में मिलता है। मध्ययुग में एक और कथा जर्मन विद्वान और तान्त्रिक डॉ. फॉस्टस की मिलती है, जिस पर अंग्रेज़ी साहित्यकार मारलो का एक नाटक तथा गेटे का एक महाकाव्य आधारित है। डॉ. फॉस्टस अपनी इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अपनी आत्मा शैतान को बेंच कर पतन की ओर उन्मुख होता है।

इस खण्ड में इन्हीं कथाओं की पृष्ठभूमि में मूल्यह्रास की विवेचना की गई है।

इकाई – 7 भारतीय दृष्टि में मूल्य **ह्रास**–कारण एवं निदान

इकाई संरचना

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 भारतीय दृष्टि में मूल्य अथवा धर्म

7.4 धर्म और उसका स्वरूप

7.5 मूल्यह्रास से रुग्ण, अधर्मी व्यक्तित्व का स्वरूप – पिता–पुत्र धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन

7.6 मानव चरित्र के तेरह स्वभावगत मूल्यह्रास अथवा प्रमुख दोष एवं उनका निदान

7.7 सारांश

7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.1 प्रस्तावना

मूल्यों के ह्रास की काल–गति के विषय में भारतीय मनीषा सदैव ही जागरूक रही है। परन्तु यहाँ प्रमुखतः मूल्यों के स्थान पर धर्म या सम्यक् जीवन, सम्यक् विचार की चर्चा पायी जाती है। महाजनो येन गतः स पन्थाः। जैसा कि आप अगले खण्ड में पढ़ेंगे, महापुरुषों का धर्मनिष्ठ जीवन ही मानवता का पथ प्रदर्शक बनता है। गीता में भी कहा है– "श्रेष्ठ पुरुष जो–जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा–वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य समुदाय उसी के अनुसार बरतने लग जाता है"(३.२१)।

सन्मार्ग से पदच्युत होना पथभ्रष्ट होना है। इसी को धर्म की ग्लानि या मूल्यों का ह्रास कहा जा सकता है। भगवान श्री कृष्ण ने अवतार की कारण–परिस्थिति के बारे में स्पष्ट कहा है– "जब–जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब–तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ"(४.७)। महाभारत का कालखण्ड इसी धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि का साक्षात्कार कराता है।

इस इकाई में विषय विवेचन हेतु हमने मुख्य रूप से महाभारत के ही कुछ प्रसंगो को लिया है। भारतीय चिन्तन की यह विशेषता है कि यहाँ कारण और निदान को साथ–साथ अभिन्न रूप से प्रस्तुत किया जाता है, उदाहरण स्वरूप, महाभारत के शान्तिपर्व का अध्याय १६३ जिसे हम विस्तार से इस इकाई में पढ़ेंगे।

7.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान जायेगें कि–

- भारतीय दृष्टि में मूल्य क्या है?
- मूल्य ह्रास के कारण क्या है?
- मूल्य ह्रास के निदान पक्ष कौन–कौन से है।
- भारतीय चिन्तन में मूल्य के विभिन्न पक्ष क्या है।

7.3 भारतीय दृष्टि में मूल्य अथवा धर्म

मूल्य की संकल्पना मूल रूप से पश्चिम की अवधारणा वैल्यू (Value) का हिन्दी अनुवाद है। इस अवधारणा में मानव समाज के प्रत्येक सम्बन्ध को आदान–प्रदान की क्रिया के रूप में देखा जाता है। और जब पूरा व्यवहार ही आदान–प्रदान का हो, तो हर वस्तु, हर क्रिया का एक निश्चित मूल्य निर्धारित होता है। नौकरी में हर पद का अलग

मूल्य है, अलग तनख़्वाह है। दहेज प्रथा में इसी तनख़्वाह के अनुपात में दूल्हों का मूल्य तय किया जाता है। इसी प्रकार अंग्रेज़ी और गणित का ट्यूशन महँगा है, जब कि कई विषयों में काफ़ी सस्ते दरों पर ट्यूशन उपलब्ध हैं। क्या आपने सोचा, ऐसा क्यों है? अंग्रेज़ी और कम्प्यूटर जानने वालों को आसानी से नौकरी मिल जाती है, जब कि कई अन्य विषयों के विद्यार्थी वर्षों तक बेरोज़गार भटकते हैं। क्या मूल्यवान है और क्या नहीं, इसका निर्धारण तो बहुत कुछ समाज की आवश्यकतायें करती हैं। कभी डॉक्टरी की पढ़ाई महँगी होती है, तो कभी इन्जीनियरिंग की; कभी होटल मैनेजमेण्ट का भाव बढ़ जाता है, तो कभी एमबीए का।

ऊपर दिए गये वर्णन में आप देखेंगे कि ये सभी के सभी मूल्य समाज और कालखण्ड द्वारा निर्मित किए गये हैं। परन्तु मूल्य–निर्धारण का एक और पहलू है, जब व्यक्ति अपने कालखण्ड की पृष्ठभूमि पर स्वयं के लिए अपने मूल्य निर्धारित करता है। अक्सर देखा गया है कि हर व्यक्ति के मन की एक केन्द्रीभूत इच्छा होती है, और कुछ के मन में अनेक इच्छाओं का एक समुच्चय होता है। अधिकांश मन की केन्द्रीभूत इच्छा 'बड़ा आदमी' बनने की होती है, परन्तु 'बड़ा आदमी' की परिभाषा सब की अलग–अलग है। किसी के लिए धनवान व्यक्ति 'बड़ा आदमी' है, किसी के लिए ऊँचे पद पर बैठा सत्ताधारी व्यक्ति 'बड़ा आदमी' है, तो कुछेक के लिए चिन्तक, विचारक, मत–प्रचारक 'बड़े आदमी' हैं। बस यही 'बड़ा आदमी' बनने के लिए जो साधन हैं, वही हमारे लिए सबसे मूल्यवान पदार्थ या क्रिया हो जाते हैं। किसी के लिए धन–सम्पत्ति, किसी के लिए पद–प्रतिष्ठा, तो किसी के लिए दान–पुण्य, समाजसेवा या विद्यार्जन सर्वोच्च मूल्य बन जाते हैं। इन्हीं मूल्यवान वस्तुओं की प्राप्ति के लिए या अपने मूल्यों को दृढ़ता से प्रतिस्थापित करने के लिए हम अपना पूरा जीवन न्यौछावर कर देते हैं। इस प्राप्ति की यात्रा में हम अपने लिए एक व्यक्तित्व गढ़ते हैं, जिसके पीछे ज्योतिष शास्त्र की मानें तो हमारी कुण्डली के ग्रहों का चक्र है, आधुनिक मनीषियों की सुनें तो हमारे जन्म का सामाजिक परिवेष और झंझावातों से निर्मित हमारी मनोवैज्ञानिक अवस्था है। इसी व्यक्तित्व, इसी केन्द्रीभूत इच्छा में हमारे मूल्यों का जगत रचा–बसा है। फिर क्या फर्क पड़ता है कि ये मूल्य हमने अपने पिताजी से लिए, या गाँधी–गौतम–विवेकानन्द या फ्रायड–मार्क्स–डार्विन से। अपने मूल्यों के असली रचयिता हम स्वयं हैं, कोई दूसरा नहीं।

मूल्य निर्धारण की एक तीसरी विधा है, जिसकी पृष्ठभूमि में पण्डितए विचारकों, एवं समाज सुधारकों की एक आदर्श समाज की परिकल्पना है। समाज के हर वर्ग में व्याप्त, यह ऐसे मिस्त्री लोग हैं जो हमेशा हाथ में रिन्च लिए मशीन ठीक करने में लगे रहते हैं। मशीन की गड़बड़ी या सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में इनका प्रशंसनीय योगदान है। परन्तु मशीन के अगले संशोधित संस्करण के लिए प्रायः इनके विचार सदियों से घिसे–पिटे होते हैं– यथा, सदा सत्य बोलो, जीवों पर दया करो, अपने

कार्य–राष्ट्र–समाज के प्रति ईमानदार बनो, बुराई से लड़ो, भ्रष्टाचार से लड़ो, अशिक्षा से लड़ो, ग़रीबी से लड़ो आदि आदि। इस प्रकार की नैतिक या मूल्यपरक शिक्षा कितनी प्रभावशाली रही है, स्वयं समाज की स्थिति इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

फिर रास्ता क्या है? रास्ता है, परन्तु हम रास्ते से भटक चुके हैं। वैल्यूज़ और इथिक्स – मूल्य एवं नैतिकता – पश्चिमी सभ्यता की नींव के पत्थर हैं, और वे वहाँ अत्यन्त कारगर हैं। परन्तु जो एक व्यक्ति की औषधि है, वही दूसरे के लिए विष हो सकती है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की नींव पश्चिम से भिन्न है। इसकी नींव के पत्थर अलग हैं। 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' – यहाँ धर्म की ग्लानि का चिन्तन है। हमें अपनी बुनियाद की एक बार फिर से पड़ताल करनी होगी, तभी रास्ता मिलेगा।

7.4 धर्म और उसका स्वरूप

बचपन से हम सुनते आये हैं कि धर्म पर ही चलने में कल्याण है, धर्म से विमुख होने में पतन है। परन्तु धर्म क्या है, इसकी कोई सन्तोषजनक व्याख्या नहीं मिलती। यह तो सर्वविदित है कि भगवद्‌गीता भारतीय चिन्तन और संस्कृति के केन्द्र में है, और गीता जिसका उपांग है, उस महाभारत को धर्मग्रन्थ कहा गया है। महाभारत में वनपर्व में यक्ष–युधिष्ठिर सम्वाद की एक कथा आती है, जिसके बारे में हम सब नें सुना और पढ़ा है। आप जानते हैं कि यक्ष कोई और नहीं, युधिष्ठिर के पिता स्वयं धर्मराज हैं। इस कथा का वैशिष्ट्य यह है कि धर्म और धर्मपुत्र के सम्वाद के केन्द्र में जो विषयवस्तु है, वह भी धर्म ही है। धर्म की व्याख्या के लिए इससे सुन्दर कोई और उपाख्यान नहीं हो सकता।

किसी एक गुरू या महापुरुष – जैसे बुद्ध, कृष्ण, यीषु या पैगम्बर मुहम्मद साहिब – के बताये गये रास्ते पर चलने को पन्थ कहते हैं, जिसे आजकल धर्म कहा जाने लगा है। युधिष्ठिर से प्रश्न पूछा गया है कि पन्थ क्या है – कः पन्थाः। यानि कि कौन सा मार्ग, किसका बताया गया मार्ग सही या श्रेष्ठ है? युधिष्ठिर का दिया गया उत्तर अत्यन्त प्रसिद्ध है, फिर भी यह उत्तर काफी कुछ गोलमोल लगता है, बिल्कुल स्पष्ट तो कतई नहीं कहा जा सकता। उत्तर है –

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैकोऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।।

किसका मार्ग श्रेष्ठ है – बुद्ध का या कृष्ण का? युधिष्ठिर कहते हैं कि एक तो इसे तर्क द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता, दूसरे तमाम श्रुतियां अलग अलग बात कहती हैं, तीसरा कोई भी एक ऋषि नहीं है जिसके मत को प्रमाण माना जा सकता है, और चौथे धर्म का असली तत्व तो इतना गुप्त है जैसे कि वह किसी गुफा में छुप के

बैठा हो। इन परिस्थितियों में युधिष्ठिर बस इतना ही सुझा सकते हैं कि जिस रास्ते पर महापुरुष चलते आये हैं, वही अनुकरणीय मार्ग है, वही पन्थ है। महाभारत काल में महापुरुष या महात्मा की शास्त्रीय व्याख्या है कि ये वे पुरुष हैं जो महत् आत्मा में अवस्थित हैं। हमारे काल के महापुरुष जिनके नाम पर शहर, ज़िलों या विश्वविद्यालयों के नाम रखे जाते हैं, वे इस श्रेणी में नहीं आते हैं।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में जितने भी धर्म विषयक सुभाषित पद मिलते हैं, उनमें धर्म के लक्षण बताये गये हैं, या धर्म प्राप्ति के साधन, लेकिन धर्म क्या है, इसकी कोई चर्चा नही है। फिर जब स्वयं धर्मराज और धर्मपुत्र युधिष्ठिर तथा महाभारत जैसा धर्मग्रन्थ भी इस विषय पर मौन हों, तो आवश्यक हो जाता है कि इस मौन का अर्थ तलाशा जाय। दरअसल धर्म जैसी अनेक सत्ताएं हैं – जैसे प्रेम, सत्य, करुणा – जिन्हें व्याख्यायित नहीं किया जा सकता, और यदि व्याख्यायित करने का प्रयास किया जाता है तो सारी व्याख्याएं अत्यन्त सीमित, अपर्याप्त और लगभग अर्थहीन सी प्रतीत होती हैं। इसीलिए जो जानते हैं, वे मौन हैं।

चाहे सत्य हो या धर्म, परमसत्ता के विषय में भारतीय दर्शन की संकल्पना रही है कि वह एक साथ निराकार एवं साकार है। "स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम"– वह शुक्रम् (तेजस्वी), अकायम् (निराकार), अव्रणम् (दोषरहित), अस्नाविरम् (स्नायुतन्त्र या संरचना विहीन), शुद्धम् अपापविद्धम् (पाप से अछूता) है। मूलतः वह अरूपा है, परन्तु आवश्यक होने पर अनेकानेक रूप धारण करता है। ऐसा ही अरूपा प्रेम माँ के मौन, उसकी आँखों और उसकी भृकुटी से टपकता है, पर पूछो तो वह भी नहीं बता पाती कि यह प्रेम है क्या।

आगे चलकर धर्मराज बताते हैं कि दस गुणों से मिलकर उनका शरीर बना है। ये दस गुण हैं – यश, सत्य, दम, शौच, सरलता, लज्जा, अचञ्चलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य।

"यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम्। दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम।।"

यानि जब व्यक्ति में इनदस गुणों का प्रकट्य हो, तो समझना चाहिए कि वहाँ धर्म की उपस्थिति है। यहाँ आवश्यक हो जाता है कि आप इन गुणों को थोड़ा विस्तार से समझ लें। लेकिन इसके पहले दार्शनिक चिन्तन के एक और पहलू को जानना होगा – नेति नेति, वह यह नहीं है, वह वह नहीं है। परम तत्व के जिन गुणों की हम अक्सर चर्चा करते हैं, अगर उसकी उपस्थिति हमारे भीतर नहीं है, तो उसे हम कैसे जान सकते हैं? उपाय है। जो गुण हमारे भीतर विद्यमान नहीं है, उसके विपरीत जो अवगुण हैं, वे तो प्रायः हमारे भीतर और आसपास प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। तो हमें पहले इन विधर्मी तत्वों की सत्ता को नेति नेति द्वारा नकारना होगा, ताकि असल तत्व के प्राकट्य

की सम्भावना बन सके। हमें यह तो नहीं मालूम कि सत्य क्या है, प्रेम क्या है, दया क्या है; पर हम अच्छी तरह जानते हैं कि झूठ, नफरत और क्रोध किसे कहते हैं। इसीलिए हमें कई बार अ लगाकर शब्द गढ़ने पड़ते हैं – जैसे अहिंसा; पता नही अहिंसा क्या है, लेकिन हिंसा हम जानते हैं, और इसी हिंसा के बोध से अहिंसा की कल्पना कर सकते हैं। धर्म के गुणों को समझने के लिए हमें कई बार इसी नेति नेति की पद्धति का इस्तेमाल करना पड़ेगा।

धर्म के शरीर का पहला तत्व है, यश। धर्मनिष्ठ व्यक्ति का यशस्वी होना उसका लक्षण है, उपलब्धि नहीं। यश शाश्वत है, अमृत है, धर्मनिष्ठ काया की दीप्ति है। उसे न तो राजा और उसके अस्त्र, न तो प्रजा और उसकी निन्दा कभी छू सकते हैं। यश इस लोक का नहीं है, इसलिए यह लोक उसे प्रभावित नहीं करता। प्रश्न है कि क्या क्रिकेट के अमुक खिलाड़ी को अगर भारत–रत्न मिल जाय तो हम उसे यशस्वी कह सकते हैं? क्या किसी भी खेल की कोई सत्ता हो सकती है? और जब उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, तो वह असत है। और असत का यश कैसे हो सकता है? राजा की सत्ता है, क्योंकि वह प्रजा की रक्षा, उसके पालन–पोषण के लिए है। वह धर्मनिष्ठ हो सकता है, इसलिए यशस्वी भी। परन्तु वह धर्मनिष्ठ नहीं हो, तो नोबेल और भारतरत्न के तमगे उसे यश की प्राप्ति नहीं करा सकते। कुछ ऐसे ही प्रश्न पूछने होंगे, उनके उत्तर ढूढ़ने होंगे, तभी तो आप यक्षप्रश्नों की अनुभूति के निकट पहुँचेंगे।

सत्य जानने के लिए झूठ को देखना होगा। झूठ भ्रम है, मिथ्या है, असत है; फिर चाहे वह अखबार का झूठ हो, या राजनेता का या हमारी स्वयं की कपोलकल्पना का, उससे कुछ भी नहीं प्राप्त होने का; वह तो चूरन का नोट है, उसका चलन सिर्फ बच्चों के खेल में है, उसके बाहर नहीं। अन्दर बाहर के अनगिनत झूठों को नकारना ही सत्य के मार्ग पर चलना है।

दमन रावण का है, महिषासुर का है; अपने अन्दर और बाहर राक्षसी प्रवृत्तियों का है। और यह या तो राम कर सकते हैं या दुर्गा। तो हमें राम को पूजना होगा, दुर्गा को पूजना होगा, उन्हें धारण करना होगा। "धारयते इति धर्मः"। जिसे हम धारण करें, या जो हमें धारण करे, वही धर्म है। राक्षस को तो हम धारण कर सकते हैं, लेकिन राक्षस हमें धारण नहीं कर सकता। क्यों? इसलिए राक्षसी धर्म जैसी कोई चीज नहीं होती, वह केवल व्याकरण का पद है। धर्म में ही आतंकी महिषासुर का दमन है, धर्म में ही दमन की शक्ति निहित है।

शौच पवित्रता है। गन्दगी बाहर ही नहीं, अन्दर भी है। मैल मन का है। स्वच्छ भारत सिर्फ झाड़ू लगाने से नहीं बनेगा। इसीलिए प्रधानमन्त्री जी को नोटबन्दी करनी पड़ी। यह जो भ्रष्ट आचरण है, भ्रष्टाचार है, उससे मुक्ति ही शौच है, पवित्रता है।

आर्जव सरलता है, अवक्र होना है – सीधा, न कि टेढ़ामेढ़ा, गोलमोल, घुमावदार। गाँधी सरल हैं – एक धोती, एक लाठी और उनकी दिव्य मुस्कान। सरल होना बहुत कठिन है। सोच में, वाणी में, आचरण में जो सरल है, वह हर जगह सरल है। कठिन होना, दुरूह होना, बहुत आसान है। हर व्यक्ति कठिन है, दुरूह है। समझ में नहीं आता कि जो व्यक्ति हमारे बगल में बैठा है, वह क्या करना चाहता है, कहाँ जाना चाहता है, क्या पाना चाहता है। एक तरफ गाँधी की धोती है; दूसरी तरफ उसकी टोपी, अचकन, गुलूबन्द, रूमाल, इत्र और जाने क्या क्या। धर्मनिष्ठ आर्जव है, सरल है; धर्मभ्रष्ट कठिन है, दुरूह है, जलेबी की तरह उलझा हुआ।

ह्री लज्जा है, शर्म है, विनीत होना है। किसी शायर ने कहा है, "मुझमें जो कुछ अच्छा है सब उसका है। मेरा जितना चर्चा है सब उसका है।।" अगर मेरी बुद्धि, विवेक, शरीर, सब कुछ उसका दिया हुआ है, तो मैं तो उधार के कपड़े पहने घूम रहा हूँ। और उधार के कपड़े पहनने में लज्जा तो आती ही है। बस धर्मनिष्ठ को यही बोध है, इसलिए वह विनीत है। मूर्ख अहंकारी को लगता है, मैनें मेहनत करके सब कुछ अर्जित किया है – बल, बुद्धि, पद, प्रतिष्ठा, सब मेरा कमाया हुआ है। यही भेद है ज्ञान और अज्ञान में।

अचापल्य या अचञ्चलता चञ्चलता का अभाव है। धर्मनिष्ठ व्यक्ति में श्रद्धा और विश्वास बसते हैं, इसलिए उसका मन इधर उधर नहीं भटकता। या तो यह विश्वास हो कि ईश्वर इस सृष्टि का नियन्ता है, वह प्रेममय है, कण–कण के परम कल्याण हेतु ही उसकी लीला है। या फिर यह कि सृष्टि की समग्रता में सामन्जस्य की गति है, उसकी अनन्त रूपमयी संरचना के रग–रग में एक अद्‌भुत ज्ञान क्रियाशील है। तब आप इस विश्वास के साथ जी सकते हैं कि जो कुछ भी बाहर या भीतर घटित हो रहा है, वह सत्य है, शिव है, सुन्दर है। मन की कुछ ऐसी ही अवस्था में मन की चञ्चलता के शान्त होने की सम्भावना है।

दान का गुण सर्वहुतः यज्ञ का प्रतिफल है। मन, बुद्धि, शरीर तथा धन आदि सभी भौतिक पदार्थ जब ईश्वर के लिए या समग्र सृष्टि के कल्याण के लिए समर्पित हों, तभी शुद्ध दान की क्रिया घटित होती है। दान करना प्रकृति का स्वभाव है।जल, वायु, अग्नि, आकाश, सभी सम्पूर्ण सृष्टि के उपभोग के लिए हैं। वृक्ष का फल स्वयं वृक्ष नही खाता, बल्कि सभी प्राणियों के पालन हेतु यह उसका दान है। जो कुछ भी हमारे आपके पास है, वह इस सृष्टि का है, सृष्टि के लिए है। इसीलिए देना हमारा नैसर्गिक धर्म है।

तप का अर्थ है ऊष्मा, जैसे कि "उसका शरीर तप रहा है"– शरीर गर्म है, बुखार है। ऊर्जा से ऊष्मा उत्पन्न होती है। यानि कि ऊर्जा को संरक्षित करना, उसका क्षरण न होने देना, तपस्या है। मन, वचन और शरीर, तीनों से हम अनेक अर्थहीन क्रियाओं में दिनरात अपनी ऊर्जा का क्षरण करते रहते हैं। एक एक करके इन तमाम

अर्थहीन क्रियाओं – जैसे कि, गप मारना, टीवी देखना, फेसबुक करना, चुँगली करना, झगड़ा करना, व्यर्थ की चिन्ता करना, आदि आदि – का त्याग करना ही तपस्या है।

ब्रह्मचर्य का प्रचलित अर्थ – कौमार्य या इन्द्रियनिग्रह – बहुत सीमित है। ब्रह्म, हम सब जानते हैं, अनिर्वचनीय परमसत्ता को उसकी समग्रता में कहते हैं। चर्या का अर्थ है, १. सैर करना, घूमना फिरना २. मार्ग, चाल (जैसे कि "राहुचर्या") ३. व्यवहार, आचरण–विधि ४. अभ्यास, अनुष्ठान (जैसे कि "तपश्चर्या")। इस प्रकार ब्रह्म में अनेकानेक प्रकार से विचरण करना ही व्यापक अर्थों में ब्रह्मचर्य है।

आइए, अब तक पढ़े पाठ को दोहराने के लिए, धर्मकाया रूपी इन दस गुणों से युक्त धर्मशील व्यक्ति का पुनरावलोकन करें। धर्मशील व्यक्ति यशस्वी एवं सत्यनिष्ठ होता है। वह राक्षसी प्रवृत्तियों और दुराचारियों के दमन में समर्थ होता है। उसका स्वभाव सरल, विनीत और स्थिर प्रकृति का होगा। वह अन्दर–बाहर से पूर्णरूपेण पवित्र होगा तथा व्यवहार से दान, तप और ब्रह्मचर्य में निमग्न होगा। भारतीय दृष्टिकोण से ऐसा ही व्यक्तित्व मानवमूल्यों से परिपूर्ण समझा जायेगा। महाभारत के महाराज युधिष्ठिर में यही व्यक्तित्व पूरी तरह परिलक्षित है।

अभ्यास प्रश्न – 1

बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' उक्ति है –
   अ. महाभारत का ब. उपनिषद का स. रामायण का द. पुराण का
2. निम्नलिखित में मूल्य शब्द किसका हिन्दी अनुवाद है –
   अ. Cost ब. Value स. Credit द. कोई नहीं
3. यक्ष–युधिष्ठिर संवाद महाभारत के किस पर्व में उद्धृत है –
   अ. वन पर्व ब. आदि पर्व स. शान्ति पर्व द. भीष्म पर्व
4. धारयते इति .... ।
   अ. कर्मः ब. धर्मः स. धारणा द. धर्मनिष्ठ
5. युधिष्ठिर के पिता का नाम है –
   अ. यमराज ब. धर्मराज स. इन्द्र द. पवनदेव

अभ्यास प्रश्न – 2

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें –

1. सन्मार्ग से पदच्युत होना .... होना है।
2. धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां ....।।
3. 'यदा यदा हि .... ग्लानिर्भवति भारत' ।

4. तप का अर्थ है .... ।
5. तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो .... नैकोऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।

7.5 मूल्यह्रास से रुग्ण, अधर्मी व्यक्तित्व का स्वरूप – पिता–पुत्र धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन

धृतराष्ट्र जन्म से अन्धे हैं, इसलिए राजगद्दी के अधिकारी नहीं हैं। गान्धारी से उनके विवाह की प्रक्रिया में कपट विद्यमान है। दृष्टिहीनता और राजा न बन पाने के कारण अपने अभागे होने का दंश वे प्रारम्भ से ही भोग रहे हैं। अत्यन्त मुश्किलों से जब सन्तान की प्राप्ति होती है, तो वे पुत्रमोह में इस तरह उलझ जाते हैं कि सन्तान के स्वर्णिम भविष्य के अतिरिक्त उन्हें कुछ और सूझता ही नहीं है। नाम धृतराष्ट्र है, यानि वह जिसने राष्ट्र पर जबरदस्ती कब्जा कर लिया हो। ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन कुछ ऐसा, जैसे एक तो करेला दूजे नीमचढ़। पिताश्री अन्धे हैं, इसलिए उनसे मार्गदर्शन प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसे में मार्गदर्शन की जिम्मेदारी कुटिल मामा शकुनि पर आ पड़ती है। दुर्योधन को पिता की अवरुद्ध महत्वाकांक्षा और मामा की कुटिलता विरासता में मिली है।

पिता की मृत्यु के पश्चात जब जंगल से पाण्डु के बालपुत्र अपनी माँ कुन्ती के साथ हस्तिनापुर वापस लौटते हैं, उसी समय महात्मा व्यास महारानी सत्यवती को भविष्य का संकेत देते हुए कहते हैं –

माँ, अब सुख के दिन बीत गये। बड़ा भयंकर समय उपस्थित होने वाला है। उत्तरोत्तर बुरे दिन आ रहे हैं। पृथ्वी की जवानी चली गयी। अब ऐसा भयंकर समय आयेगा, जिसमें सब ओर छल–कपट और माया का बोलबाला होगा। संसार में अनेक प्रकार के दोष प्रकट होंगे और धर्मकर्म तथा सदाचार का लोप हो जायगा।३ कौरवों का साम्राज्य समाप्त हो जायेगा, इसलिए अपने कुल का भयंकर संहार देखने के पहले ही आप सबकुछ त्याग कर तपोवन के लिए प्रस्थान करें।

अतिक्रान्तसुखाः कालाः पर्युपस्थितदारुणाः। श्वः श्वः पापिष्ठदिवसाः पृथिवी गतयौवना।।
बहुमायासमाकीर्णो नानादोषसमाकुलः। लुप्तधर्मक्रियाचारो घोरः कालो भविष्यति।।

महाभारत के इसी अध्याय (आदिपर्व १२७) में आगे बालक दुर्योधन के चरित्र का वर्णन है–

वह सदा धर्म से दूर रहता और पापकर्मों पर ही दृष्टि रखता था। मोह और ऐश्वर्य के लोभ से उसके मन में पापपूर्ण विचार भर गये थे।

तस्य धर्मादपेतस्य पापानि परिपश्यतः। मोहादैश्वर्यलोभाच्च पापा मतिरजायत।।

अध्याय के अन्त में बालक दुर्योधन के प्रथम कृत्य की कथा मिलती है। भीम की हत्या करने के उद्देश्य से दुर्योधन ने पाण्डुपुत्रों को गंगातट पर विशेष रूप से निर्मित गृह में जलक्रीड़ा के लिए आमन्त्रित किया। वहाँ उसने भीम के भोजन में कालकूट नामक विष डलवा दिया। और फिर प्रेम का पाखण्ड करते हुए उसने अपने हाथों से भीम को भरपेट भोजन कराया। विष के प्रभाव से जब भीम बेहोशी की निद्रा में चले गये, तो उन्हें बाँधकर उसने नदी में बहा दिया। भीम की हत्या करने में तो वह सफल नहीं हुआ, लेकिन इस कथा में दुर्योधन का छलकपट, धूर्तता और पाप पूर्णतः परिलक्षित है। भ्रातृवध का घोर पाप दुर्योधन से औरंगजेब तक एक कालखण्ड के पतन का परिचायक है। अगली ईकाई में जब हम पश्चिम का इतिहास खोलेंगे, तब उसके पहले पन्ने पर इसी भ्रातृवध के पाप की कथा मिलेगी।

दुर्योधन के पापों की शेष कथा आप सब ने सुन रखी है, या टीवी पर तो अवश्य देखी होगी – जुए के खेल का प्रपंच, द्रौपदी का चीरहरण, कृष्ण की मध्यस्थता के बावजूद दुर्योधन का एक अंगुल भी जमीन पाण्डवों को देने से इन्कार, युद्ध और विशाल नरसंहार। धृतराष्ट्र और दुर्योधन की कथा यहाँ प्राक्कथन के रूप में दी गयी है।

अब हमें पुनः लौटना होगा यह देखने के लिए कि धृतराष्ट्र और दुर्योधन के व्यक्तित्व के इन दोषों का स्वरूप क्या है, और उनकी उत्पत्ति कहाँ है। जिस प्रकार प्रकाश के क्षीण होने से अन्धकार की वृद्धि होती है, ठीक उसी प्रकार धर्म के क्षीण होने से अधर्म की वृद्धि होती है। अधर्म का स्वयं में कोई अस्तित्व नहीं है, वह केवल धर्म का अभाव है। यक्ष–युधिष्ठिर सम्वाद पुनः पुनः इस तथ्य की पुष्टि करता है। उदाहरण के लिए, युधिष्ठिर का कथन है कि धर्मविषयक मूढ़त्व या मूर्खता ही मोह का मूल है (मोहो हि धर्ममूढ़त्वम्) तथा धर्म की निष्क्रियता ही आलस्य का कारण है (धर्मनिष्क्रियताऽऽलस्यम्)।

शरीर में जब अधर्म बढ़ता है, यानि हम शरीर का धर्म जैसे खेलना कूदना, दौड़ना भागना छोड़ कर हर समय कुर्सी पर बैठे रहते हैं, तो मधुमेह, रक्तचाप, हृदयरोग जैसे दोष जन्म लेते हैं। ठीक इसी तरह जब व्यक्ति या समाज में अधर्म की वृद्धि होती है, तो अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है।

7.6 मानव चरित्र के तेरह स्वभावगत मूल्यह्रास अथवा प्रमुख दोष एवं उनका निदान :

महाभारत के अनुसार इनमें से तेरह प्रमुख दोषों की कोटि में आते हैं। प्रस्तुत

प्रसंग (शान्तिपर्व, अध्याय १६३) में युधिष्ठिर पितामह भीष्म से ज्ञान प्राप्त करने जाते हैं और पूछते हैं –

भरतश्रेष्ठ, परम बुद्धिमान् पितामह ! क्रोध, काम, शोक, मोह, विधित्सा, परासुता, मद, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, निन्दा, दोषदृष्टि, और दैन्य – ये सब दोष किससे उत्पन्न होते हैं ?

यतः प्रभवति क्रोधः कामो वा भरतर्षभ। शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वं तथा मदः।।

लोभो मात्सर्यमीर्ष्या च कुत्सासूया कृपा तथा। एतत् सर्वे महाप्राज्ञ याथातथ्येन मे वद।।

आइए, जिस तरह हमनें धर्मकाया के गुणों को विस्तार से समझा, उसी तरह पितामह भीष्म से इन दोषों की उत्पत्ति और निदान का मार्ग सीखने का प्रयास करते हैं। भीष्म कहते हैं कि "ये तेरह दोष प्राणियों के अत्यन्त प्रबल शत्रु हैं जो मनुष्य को सदैव चारो ओर से घेरे रहते हैं। मनुष्य के क्षण भर असावधान होते ही ये उस पर भेड़ियों की तरह टूट पड़ते हैं। इन्हीं से सब दुख प्राप्त होते हैं और इन्हीं के वशीभूत हो मनुष्य की पापकर्मों में प्रवृत्ति होती है।"

१. क्रोध :– इन तेरह दोषों में सबसे प्रमुख क्रोध है। आप जानते हैं कि दुर्योधन ने इसी क्रोध के कारण क्या क्या नहीं किया। हम सभी को छोटी से बड़ी बात पर दिन में बीस बार गुस्सा आता है। फिर कैसे कैसे भाव आते हैं – "मैं उसको छोड़ूँगा नहीं, मैं उसको ठीक कर दूँगा, आदि आदि।" भीष्म बताते हैं कि "क्रोध लोभ से उत्पन्न होता है, और दूसरों के दोष देखने से बढ़ता है" – "लोभात् क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते।"

लोभ लालच है – जो है उससे असन्तुष्टि, और जो नहीं है उसे पाने की तृष्णा। हमारे अन्दर बहुत सारी इच्छाएं होती हैं, महत्वाकांक्षा होती है। नया वाला फोन चाहिए, महँगी वाली ड्रेस चाहिए, बड़ी वाली गाड़ी, घर में ढेर सारे नौकर चाकर, विदेश यात्रा, और पता नहीं क्या क्या चाहिए। यही लोभ है। बाज़ार में इसी अवगुण को गुण के भेष में परोसा जाता है – ये दिल मांगे 'मोर'। इसी लोभ का परिष्कृत रूप है महत्वाकांक्षा। अंग्रेज़ी में इसे ऐम्बिशन कहते हैं। आधुनिक विचारकों के मतानुसार यदि व्यक्ति में ऐम्बिशन नहीं है, तो उसका जीवन व्यर्थ है।

इसीलिए आगे चल कर डॉक्टर बनना है, डी.एम. बनना है, एम.एल.ए., एम.पी., मन्त्री, प्रधानमन्त्री, और जाने क्या क्या बनना है। बस इसी गाड़ी में बैठा इक्कीसवीं सदी का मानव मन चौबीस घन्टे घूमता रहता है। और यदि गाड़ी पंक्चर हो गयी, किसी ने ब्रेक लगा दिया तो३ पिताजी ने फोन के लिए पैसे नहीं दिए, दोस्त ने उधार नहीं दिए, माताजी ने स्वछन्द घूमने फिरने या शराब–सिगरेट पीने पर खरीखोटी सुना दी, आइ. आइ.टी. या आइ.ए.एस. की परीक्षा में ठीकठाक नम्बर नहीं आए, शहर वालों ने चुनाव में

वोट नहीं दिए, तो३। बस फिर क्या है – खून खौल उठता है, सारे शरीर में आग लग जाती है। लोभ की सन्तुष्टि न होने पर क्रोध आता है।

ऊपर से चारों तरफ बुराइयाँ ही बुराइयाँ, कमियाँ ही कमियाँ नज़र आती हैं। बाबू–अफसर–राजनेता सभी भ्रष्ट हैं, प्रधानमन्त्री को देश चलाना नहीं आता, सचिन तेन्दुलकर को बैटिंग करनी नहीं आती – वर्ल्डकप हरवा दिया, रामसिंह के लड़के को गणित नहीं आती – घूस देकर इन्जीनियर बन गया। ऐसा ज़माना देखकर गुस्सा तो आयेगा ही। भीष्म कहते हैं, "दूसरों के दोष देखने पर क्रोध बढ़ता है।"

यह जो बारबार खून खौलता है, इससे बचने का उपाय क्या है ? भीष्म की सीख है कि क्षमा ही एकमात्र रास्ता है। क्षमा से ही क्रोध शान्त होता है, क्षमा से ही उससे जड़ से छुटकारा मिलता है। "क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्तते।"

लेकिन क्षमा करने के लिए कोई स्विच या बटन तो है नहीं कि दबाते ही शुरू हो जाय या बन्द हो जाय। क्षमा के क्रियान्वयन के पहले एक लम्बी तैयारी होनी चाहिए। क्षमा क्यों करें, इसका उत्तर तलाशना पड़ेगा। इस बात का बोध होना होगा, कि जिस व्यक्ति या व्यवस्था पर हमें क्रोध आ रहा है वह अज्ञानी है, या अज्ञान से उपजी और अज्ञान में स्थित है। ऐसे में व्यक्ति या व्यवस्था के लिए करुणा उत्पन्न होती है, क्रोध नहीं। फिर जो इच्छा पूरी नहीं हो रही है, वह मूर्खतापूर्ण इच्छा है, इस बात का अहसास हो। वास्तव में मूर्खों के पास ही इच्छाएं होती हैं, ज्ञानी पुरुष इच्छाओं से मुक्त होता है।

एक और महत्वपूर्ण बात जो हमने पहले देखी है, वह यह कि धर्म के अभाव में ही अधर्म का अस्तित्व है, और धर्म के बढ़ने से ही अधर्म क्षीण होना शुरू होता है। धर्म की प्रारम्भिक उपस्थिति में भी इतना तो बोध होने ही लगता है कि जो कुछ भी घटित हो रहा है, उसके पीछे अनुमन्ता ईश्वर की अनुमति है, या फिर हमारी न समझ में आने वाली उसकी लीला है। इतनी भूमि तैयार हो तो क्षमा के अंकुर फूट सकते हैं। क्षमा करुणा की सहोदरी है, धर्म के मूल में है, धर्मशील व्यक्ति के आचार की सुगन्ध है। क्षमा की क्षमता के लिए धर्म साधना होगा। परन्तु साथ में बुद्धि और विवेक भी चाहिए, नहीं तो हम आन्दोलन करने लगेंगे कि रावण को, कंस को, दुर्योधन को, महिषासुर को, सभी को क्षमादान मिलना चाहिए। यहाँ यह भी ध्यान देना होगा कि भीष्म के अनुसार क्षमा में क्रोध का शमन है, पाप और पापाचारियों का नहीं।

२. काम :– संकल्पाज्जायते कामः सेव्यमानो विवर्धते। यदा प्राज्ञो विरमते तदा सद्यः प्रणश्यति।। "काम संकल्प से उत्पन्न होता है। उसका सेवन किया जाय तो बढ़ता है। जब बुद्धिमान पुरुष उससे विरक्त हो जाता है, तब वह (काम) तत्काल नष्ट हो जाता है।"

थोड़ा गूढ़ विषय है। एक ओर काम को चार पुरुषार्थों में रखा गया है – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। उसका साकार रूप कामदेव देवता हैं, कोई असुर या राक्षस नहीं। फिर भगवान शिव उसे भस्म कर डालते हैं। पुनः शिव की ही कृपा से वह कृष्ण और रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में पुनर्जन्म को प्राप्त होता है। काम के बिना सन्तानोत्पत्ति सम्भव नहीं है। भोग विलास की वस्तुएं बननी बन्द हो जाय, तो दुनिया में व्यापार ही बन्द हो जायेगा।

फिर कामाग्नि या कामातुर जैसे शब्दों का प्रयोग, यथा 'कामातुराणां न भयं न लज्जा', उसके निषेध की ओर इंगित करता है। पशुओं में मनुष्य जैसा संयम नही है, इसलिए उनमें कामाग्नि की तीव्रता प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है। काम के केन्द्र में भले ही नर–मादा सम्बन्ध हों, परन्तु उसका विस्तार व्यापक भोगविलास में दिखता है। विलासिता का जीवन प्रायः अधोगामी होता है। आपने नशेड़ियों, शराबियों की दुर्गति देखी है; किस तरह वे नालियों में चेतनाहीन पड़े पाये जाते हैं। भोगविलास में फँसा व्यक्ति न तो अपने स्वयं के कल्याण के बारे में सोच सकता है, और न ही अपने परिवार या समाज के उत्थान के बारे में। इसीलिए संयम से स्वतन्त्र हो जाने पर काम मनुष्य के लिए अतिशय दुखदायी दोष साबित होता है।

काम की उत्पत्ति संकल्प में है। जब हम ठान लेते हैं कि हमें तो यह करना ही है, हमें तो यह पाना ही है, तो वहीं काम का जन्म होता है। जितना अधिक उसका सेवन किया जाता है, उतना ही अधिक वह बढ़ता है, ठीक जैसे घी डालने से अग्नि की ज्वाला बढ़ती है।

पितामह भीष्म कहते हैं कि विरक्ति ही इससे छुटकारा पाने का एकमात्र मार्ग है। जो मिला है, वह ईश्वर प्रदत्त प्रसाद है। उससे अधिक पाने की इच्छा प्रसाद तो नहीं हो सकती। सारी इच्छाओं, कामनाओं से विरक्ति बुद्धि के जागृत हुए बिना सम्भव नहीं है। और बुद्धि, विवेक, ज्ञान के लिए धर्म के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं है।

३. परासुता या पराऽसूया (डाह, द्रोह, विरोध, शत्रुता का भाव) :– परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्तते। दयया सर्वभूतानां निर्वेदात् सा निवर्तते। अवद्यदर्शनादेति तत्त्वज्ञानाच्च धीमताम्।। "क्रोध, लोभ तथा अभ्यास से परासुता प्रकट होती है। सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया से और वैराग्य से वह निवृत्त होती है। परदोष–दर्शन से इसकी उत्पत्ति होती है, और बुद्धिमानों के तत्वज्ञान से वह नष्ट हो जाती है।"

धर्मशील व्यक्ति सभी प्राणियों को अपना, आत्मनि, समझता है। धर्म के अभाव में इसकी विपरीत अवस्था होती है, जिसमें सभी पराये या दूसरे प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं, इन दूसरों के प्रति द्रोह, डाह, विरोध और शत्रुता का भाव होता है। हमारा सारा ध्यान विरोधियों के दोषों की व्याख्या, परदोष–दर्शन, में ही रहता है। इसका उदाहरण

राजनीति करने वालों में प्रचुर मात्रा में मिलता है। इसी आग में हम दिनरात झुलसते हुए मरते रहते हैं। निदान का मार्ग है कि सभी प्राणियों के प्रति दया हो, करुणा हो, तो शान्त स्थिर चित्त में इस दोष से मुक्ति मिल जाती है।

४. **मोह** :— अज्ञानप्रभवो मोहः पापभ्यासात प्रवर्तते। यदा प्राज्ञेषु रमते तदा सद्यः प्रणश्यति।। "मोह अज्ञान से उत्पन्न होता है, तथा पाप के अभ्यास (बारबार करने) से बढ़ता है। जब मनुष्य विद्वानों में अनुराग करता है, तब उसका मोह तत्काल नष्ट हो जाता है।"

किसी व्यक्ति या वस्तु से अतिशय अनुराग ही मोह है। धृतराष्ट्र का दुर्योधन के प्रति मोह ही अन्ततोगत्वा पिता–पुत्र दोनों के विनाश का कारण बनता है। पुत्र प्रेम में पिता पुत्र के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। मोह में वह पुत्र के सभी अनीतिपूर्ण कार्यों में उसका सहयोग करता है। मोह अज्ञान से उपजा अतिकष्टदायी कठोर बन्धन है। क्षणभंगुर, अनित्य वस्तु का अटूट सानिध्य पाने की इच्छा, घोर मूर्खता, दुर्दम अज्ञान नहीं तो और क्या है? अधर्म का निदान धर्म में है। अज्ञान का निदान ज्ञान में है। मरणधर्मा वस्तु का चिरस्थायी साथ स्वयं में विरोधाभास है। ज्ञान, विवेक या सत्य–दर्शन सभी लोकों की वस्तुओं को उनके वास्तविक स्वरूप में देख पाना है। यह दृष्टि आते ही अन्धकार रूपी अज्ञान और मूर्खता नष्ट होना प्रारम्भ हो जाते हैं।

५. **विधित्सा (आयोजन, प्रयोजन, सम्पन्न करने की इच्छा)** :— विरुद्धानीह शास्त्राणि ये पश्यन्ति कुरूद्वह। विधित्सा जायते तेषां तत्त्वज्ञानान्निवर्तते।। "कुरुश्रेष्ठ! जो लोग धर्म के विरोधी (अथवा परस्पर विरोधी) शास्त्रों का अवलोकन करते हैं, उनके मन में अनेकानेक आयोजन सम्पन्न करने की इच्छा रूपी विधित्सा उत्पन्न होती है। यह तत्त्वज्ञान से निवृत होती है।"

हम सभी के व्यक्तित्व में एक दोष प्रायः देखने को मिलता है। हमारी समस्या यह होती है कि हमें पता नहीं कि हमें क्या करना चाहिए। हम कभी पिताजी की राय लेते हैं, तो कभी दोस्तों की; वहाँ से बात नहीं बनती, तो पत्र–पत्रिकाओं में चिट्ठी लिखकर पूछते हैं, या फिर कैरियर काउन्सलर की शरण में जाते हैं। बच्चा बीमार हुआ तो पता नहीं कि अंग्रेजी डॉक्टर के पास जायें या होम्योपैथी या आयुर्वेद वाले के पास। पड़ोसन कहती है कि बच्चे के ऊपर ाकाला साया है, ओझा को दिखाना होगा। पण्डित जी बता रहे हैं कि शनि और राहु की दशा चल रही है। बड़ी मुसीबत है, अब करें तो क्या करें? फिर तरह तरह के प्रयोजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है। हनुमानजी का व्रत भी कर लेते हैं, सत्यनारायण जी की कथा भी करवा देते है, ओझा को दिखा ही लेते हैं, और डॉक्टर साहब की दवाई तो चलेगी ही।

इसी स्थिति को विधित्सा कहते हैं। भीष्म कहते हैं कि परस्पर विरोधी शास्त्रों का

अवलोकन करने से यह स्थिति उत्पन्न होती है। या यूँ समझिए कि कई लोगों की राय लेने से। ऐसा दिग्भ्रमित मन केवल तत्त्वज्ञान से रोशनी पाकर शान्त हो सकता है। पर तत्त्वज्ञान मिलेगा कहाँ? धर्म में। केवल धर्मशील व्यक्ति में तत्त्वज्ञान का प्रादुर्भाव सम्भव है।

६. **शोक** :– प्रीत्या शोकः प्रभवति वियोगात् तस्य देहिनः। यदा निरर्थकं वेत्ति तदा सद्यः प्रणश्यति।। "जिस पर प्रेम हो, उस प्राणी के वियोग से शोक प्रकट होता है। परन्तु जब मनुष्य यह समझ ले कि शोक व्यर्थ है, उससे कोई लाभ नहीं है, तो उस शोक की शान्ति हो जाती है।"

प्रियतम के विछोह में शोक का कारण छुपा है। विछोह कई प्रकार से हो सकता है। मृत्यु इनमें से एक है। सम्बन्ध विच्छेद दूसरा प्रकार है। परन्तु शोक की पीड़ा दोनों में एक ही जैसी है। विवेक ही हमें दिखा सकता है कि हर शोक निरर्थक है। इस संसार में जहाँ सभी कुछ नश्वर है, वहाँ कितनी देर या कितनी दूर तक किसी का साथ सम्भव है? एक न एक दिन तो इस संसार का स्वप्न टूटना ही है। स्वप्न तो लगातार बदलता है, और लगातार कुछ न कुछ छूटता जाता है, विस्मृत होता जाता है। फिर एक दिन नींद टूटती है, और स्वप्न–लीला की इति हो जाती है। सोचने में यह सब कुछ कितना सरल, कितना स्पष्ट दिखता है। लेकिन सोचना, विचारना बोध नहीं है। बोध तो सत्य का शाश्वत सानिध्य है। बोध ही तो गौतम को बुद्ध बनाता है। दर्शन शास्त्र के सिद्धान्तों की समझ आपको दर्शन शास्त्र का प्रोफेसर बना सकती है, बुद्ध नहीं। उसके लिए तो धर्म, ईश्वर और गुरू की शरण लेनी होगी। आराध्य के चरणों में ही इस विवेक का प्रादुर्भाव और इस असाध्य कष्टकारी शोक से छुटकारा सम्भव है।

७. **मात्सर्य** :– सत्यत्यागात् तु मात्सर्यमहितानां च सेवया। एतत् तु क्षीयते तात साधूनामुपसेवनात्।। "सत्य का त्याग और दुष्टों का साथ करने (अहितकारी प्रवृत्तियों के सेवन) से मात्सर्य दोष की उत्पत्ति होती है। तात! श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा और संगति करने से उसका नाश हो जाता है।"

मात्सर्य मूलतः विद्वेष है। किसी भी प्रकार के विद्वेष के पीछे ईर्ष्या, डाह और असूया होती है, इसलिए इन अर्थों में भी मात्सर्य का प्रयोग देखा जाता है। भीष्म दो तरह से मात्सर्य का कारण देखते हैं। पहला कारण सत्य का त्याग है। कई बार बहुत पढ़े लिखे लोगों से सुनने को मिल जाता है कि गीता, भागवत, विवेकानन्द, गाँधी पढ़ने और बहस करने में तो अच्छे लगते हैं, लेकिन दैनिक जीवन में व्यावहारिक नहीं हैं। दैनिक जीवन में तो झूठ बोलना ही पड़ता है; चोरी भी करनी पड़ती है – चाहे बिजली या टैक्स की चोरी हो, चाहे परीक्षा में नकल करना; फिर रिश्वत भी खिलानी पड़ती है, नहीं तो दफ्तर वाले फाइल ही नहीं बढ़ने देते। यह भाव ही शुद्ध अर्थों में सत्य का त्याग है।

मात्सर्य का दूसरा कारण है, अहितकारी प्रवृत्तियों की सेवा या सेवन। यह जानने के लिए हमारे लिए क्या हितकारी है, क्या अहितकारी, केवल सामान्य बुद्धि पर्याप्त है, किसी विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। नशा करना, लड़ाई झगड़ा करना, किसी की जेब काटना, कहाँ से हितकारी है, कौन से शरीर और मन के लिए स्वास्थ्यवर्धक है? और जो हितकारी नहीं है, वह अहितकारी ही हुआ। फिर भी हमने ऐसी कितनी ही प्रवृत्तियों की आदत डाल रखी है। फिर तो विद्वेष होगा ही – एक दो से नहीं, सभी से। किसी के अच्छे कपड़े देखे, ठाट देखे, किसी की ऊँची पद–प्रतिष्ठा देखी, तो यही भाव पैदा होता है कि लो, ये तो मुझसे भी बड़ा चोर निकला।

भीष्म कहते हैं कि मात्सर्य से छुटकारा पाने का उपाय है कि श्रेष्ठ जनों की, साधु–सन्तों की संगत की जाय। इनके पास न तो चोरी का माल है, न ही इनके साथ रहने में अपने ठगे जाने का कोई खतरा। फिर इनसे विद्वेष का कोई आधार ही नहीं है। इनके साथ विद्वेष का भाव ही नहीं उठता। धीरे धीरे निर्विद्वेष रहने में आनन्द मिलने लगता है, सुख प्राप्त होता है, और हम मात्सर्य से मुक्त होने लगते हैं।

८. **मद** :– कुलाज्ज्ञानात् तथैश्वर्यान्मदो भवति देहिनाम्। एभिरेव तु विज्ञातैः स च सद्यः प्रणश्यति।। "अपने उत्तम कुल, उत्कृष्ट ज्ञान तथा ऐश्वर्य का अभिमान होने से देहाभिमानी मनुष्यों पर मद सवार हो जाता है। परन्तु इनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर वह मद तत्काल उतर जाता है।"

उत्तम कुल, उत्कृष्ट ज्ञान तथा ऐश्वर्य तो राम और कृष्ण के पास भी था, और रावण और कंस के पास भी। फिर इनमें इतना अन्तर कहाँ से आया? इस प्रश्न का उत्तर इस श्लोक के एक शब्द 'देहिनाम्' ((हिन्दी अनुवाद मे 'देहाभिमानी') में मिलता है।जब तक हम अपने को प्रमुख रूप से शरीर या देह समझते हैं, तब तक ही हमें भौतिक लोक में परिभाषित अपने अस्तित्व पर अभिमान होता है। राम अयोध्या नरेश की पदवी से बहुत ऊपर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान हैं। कृष्ण मथुरा नरेश या द्वारकाधीश तक सीमित नहीं हैं। उनके सम्बोधन पर गीता 'श्रीभगवानुवाच' लिखती है। लेकिन रावण और कंस का लंकापति और मथुराधिपति के अतिरिक्त भी कोई अस्तित्व है, इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती।

धर्मशील व्यक्ति आत्मा में स्थित है। उसके मानसिक, प्राणिक और दैहिक रूप उसकी छायायें हैं, उसका स्वरूप नहीं। विवेक और बुद्धि से पूर्ण पुरुष को छायारूपी संदिग्ध अस्तित्व पर कभी अभिमान नहीं हो सकता। यह अभिमान तो रस्सी को सर्प समझने के भ्रम से उत्पन्न होता है, अपने कुल, ज्ञान और ऐश्वर्य को अपना स्वरूप मानने से होता है। जब इन तीनों का यथार्थ ज्ञान हो जाय, जब यह समझ में आ जाय कि ये तीनों तो प्रकृति या माया प्रदत्त हैं, तो इनके कारण उत्पन्न मद स्वतः समाप्त हो जाता है।

९. ईर्ष्या :– ईर्ष्या कामात् प्रभवति संहर्षाच्चैव जायते। इतरेषां तु सत्त्वानां प्रज्ञया सा प्रणश्यति।। "मन में कामना होने से तथा दूसरे प्राणियों की हँसी–खुशी देखने से ईर्ष्या की उत्पत्ति होती है तथा विवेकशील बुद्धि के द्वारा उसका नाश होता है।"

मन में जब काम उठता है, भोग–विलास की कामना जगती है, तो अड़ोस पड़ोस में अन्य लोगों की विलासिता की सामग्री पर भी ध्यान जाता है। हमने नये कपड़े खरीदे, तो सभी के नये कपड़ों पर नज़र जाती है। फिर जिनके पास हमसे अधिक अच्छा है, उनसे ईर्ष्या होना स्वाभाविक है। हमारे साथी को दस लाख का पैकेज मिल गया, और हमें चपरासी की भी नौकरी नही मिल रही, तो समाज के इन जुगाड़ू सफल लोगों से ईर्ष्या तो होगी ही। भीष्म हों या कोई अन्य महात्मा, सब एक ही बात दोहराते हैं – "विवेकशील बुद्धि के द्वारा उसका नाश होता है।" और हम भी वही एक प्रश्न दोहराते हैं – "यह मिलेगी कहाँ?" "बुद्धं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि।संघं शरणं गच्छामि।"

१०. कुत्सा (निन्दा):– विभ्रमाल्लोकबाह्यानां द्वेष्यैर्वाक्यैरसम्मतैः। कुत्सा संजायते राजन् लोकान् प्रेक्ष्याभिशाम्यति।। "राजन! समाज से बहिष्कृत हुए नीच मनुष्यों के दोषपूर्ण तथा अप्रामाणिक वचनों को सुनकर भ्रम में पड़ जाने से निन्दा करने की आदत होती है। परन्तु श्रेष्ठ पुरुषों को देखने से वह शान्त हो जाती है।"

अखबार, टीवी, बाज़ार, पॉलिटिक्स – हर जगह आदमी यही बोलता है, "हमारी पार्टी अच्छी है, हमारा माल अच्छा है। दूसरे की पार्टी भ्रष्ट है, उसका माल घटिया है।" हम दिन भर यही सुनते हैं, और धीरे धीरे इसी रंग में रंग जाते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों की संगत कीजिए, निन्दा करने की निरर्थक, मूर्खतापूर्ण आदत छूट जायेगी।

११. असूयाः– प्रतिकर्तुं न शक्ता ये बलस्थायापकारिणे। असूया जायते तीव्रा कारुण्याद् विनिवर्तते।। "जो लोग अपनी बुराई करने वाले बलवान् मनुष्य से बदला लेने में असमर्थ होते हैं, उनके हृदय में तीव्र असूया (दोषदर्शन की प्रवृत्ति) पैदा होती है, परन्तु दया का भाव जाग्रत् होने से उसकी निवृत्ति हो जाती है।"

हम दोष उन्हीं में ढूढ़ते हैं, जिनका हम कुछ बिगाड़ नहीं सकते। और जब हम कुछ नहीं कर सकते, तो नफरत तो कर ही सकते हैं, उनकी निन्दा करके उनका मान घटाने का प्रयास तो कर ही सकते हैं। यही असूया है। जब समझ में आता है कि यहाँ सब दुखी हैं, सब किसी न किसी रूप में पीड़ित हैं – 'अनित्यं असुखं लोकं इमम्।' – तब सभी प्राणियों के लिए करुणा का भाव उत्पन्न होता है। करुणा में ही असूया का निदान है।

१२. कृपा :– कृपणान् सततं दृष्ट्वा ततः संजायते कृपा। धर्मनिष्ठां यदा वेत्ति तदा शाम्यति सा कृपा।। "सदा कृपणों को देखने से अपने में भी दैन्यभाव पैदा होता है। धर्मनिष्ठ पुरुषों के उदार भाव को जान लेने पर वह दैन्यभाव नष्ट हो जाता है।"

कृपा का अर्थ यहाँ तरस खाने से है। "हाय राम! उसके पास तो यह भी नहीं है, वह भी नहीं है, बेचारा कैसे गुजर बसर करता होगा।" फिर ऐसे बेचारों को देखते देखते अपने ऊपर भी तरस आने लगता है। "हाय! मैं भी तो कितना गरीब हूँ, मेरे पास भी तो कुछ नहीं है।" धर्मनिष्ठ व्यक्ति का भाव ठीक इसके विपरीत होता है। वह तो कहता है – 'अहं ब्रह्मास्मि' 'शिवोऽहम्' 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्।' जो परमेश्वर को जानता हो, जो ब्रह्म हो, शिव हो, उसे तीनों लोकों में क्या है जो प्राप्त नहीं है। जिसके पास सब कुछ हो, वह केवल दे सकता है, ले नहीं सकता। ऐसे धर्मनिष्ठ पुरुषों का सत्संग करने से कृपणता का दैन्य भाव समाप्त हो जाता है।

१३. लोभ :– अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा। अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्तते।। "प्राणियों का भोगों के प्रति जो लोभ देखा जाता है, वह अज्ञान के ही कारण है। भोगों की क्षणभंगुरता को देखने और जानने से उसकी निवृत्ति हो जाती है।"

अज्ञान में ही सभी प्रकार के लोभों की उत्पत्ति है। अगर मुझे ये मिल जाय, अगर मैं वो बन जाऊँ, तो मेरे सभी दुखों का अन्त हो जायेगा, और मैं बहुत सुखी हो जाऊँगा। ऐसा सोचना घोर अज्ञान नहीं तो और क्या है? यह जान लेने पर कि सभी के सभी भोग अस्थिर हैं, कुछ भी बहुत देर तक टिकने वाला नहीं है, वस्तुओं के प्रति लोभ या उन्हें प्राप्त करने की इच्छा समाप्त हो जाती है।

इन तेरह दोषों के वर्णन के पश्चात इस अध्याय में पितामह भीष्म का अन्तिम वचन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

एतान्येव जितान्याहुः प्रशमाच्च त्रयोदश। एते हि धार्तराष्ट्राणां सर्वे दोषास्त्रयोदश।। त्वया सत्यार्थिना नित्यं विजिता ज्येष्ठसेवनात्।। "कहते हैं, ये तेरहों दोष शान्ति धारण करने से जीत लिए जाते हैं। धृतराष्ट्र के पुत्रों में ये सभी दोष मौजूद थे , और तुम सत्य को ग्रहण करना चाहते हो, इस लिए तुमने श्रेष्ठ पुरुषों के सेवन से इन पर विजय प्राप्त कर ली।"

धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन का चरित्र समाज की पतनोन्मुखी गति का परिचायक है। उनके भीतर विद्यमान यही तेरह दोष समाज में व्याप्त मूल्यों के ह्रास को लक्षण और कारण हैं। हमने देखा कि धर्म की अनुपस्थिति ही अधर्म का अभ्युदय है, मूल्यों का ह्रास है। धर्म की पुनर्स्थापना ही इसका निदान है। भीष्म के अनुसार क्षमा, विरक्ति, प्रज्ञा, बुद्धि, महात्माओं के दर्शन और उनके सानिध्य में ही इन सभी दोषों का निदान है। "बुद्धं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि।संघं शरणं गच्छामि।"

7.7 सारांश

इस इकाई में आपने जाना कि –

- भारतीय दृष्टि में मूल्य को किस तरह धर्म के रूप में परिभाषित किया जाता है।
- धर्म के स्वरूप के क्या –क्या अंग है।
- मूल्य ह्रास के उदाहरण के रूप में किस तरह धृतराष्ट्र और दुर्योधन के चरित्रों का अध्ययन आवश्यक है।
- भीष्म द्वारा बताए गए मानव स्वभाव के तेरह नैसर्गिक दोष कौन –कौन से है।

7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न – 1 के उत्तर

1. अ
2. ब
3. अ
4. ब
5. ब

अभ्यास प्रश्न – 2 के उत्तर

1. पथभ्रष्ट
2. महाजनो येन गतः स पन्थाः
3. धर्मस्य
4. उष्मा
5. विभिन्ना

7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Ainapure, Vasudeva, Ed.*Mahabharata with the commentary Bhavdipa of Nilakantha*. Bombay: Gopal Narayan & Co., 1901. e-text at ASCI.

Ganguli, Kisari Mohan.*Mahabharata e-text*. Project Gutenberg, 2005.

पाण्डेय, पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री, अनुवादक – महाभारत. गोरखपुरः गीताप्रेस, 1965.

इकाई – 8 पाश्चात्य दृष्टि में मूल्य ह्रास – कारण एवं निदान

इकाई संरचना

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 पाश्चात्य परम्परा के अध्ययन की आवश्यकता

8.4 सर्वोत्कृष्ट मानव मूल्य; मूल्यह्रास के कारण एवं निदान

8.4.1 प्राचीन ग्रीस

8.4.1.1 डिमॉक्रिटस (४६०–३७० ईसा पूर्व)

8.4.1.2 सूकरात (४७०–३६६ ईसा पूर्व)

8.4.1.3 प्लेटो (४२८–३४८ ईसा पूर्व)

8.4.1.4 अरस्तू (३८४–३२२ ईसा पूर्व)

8.4.1.5.वैराग्य या तितिक्षावादी दर्शन (Stoicism) (ईसा पूर्व तीसरी सदी से तीसरी सदी ईस्वी तक)

8.4.2 मध्यकालीन युग

8.4.2.1 सेन्ट ऑगस्टीन (३५३–४३० ईस्वी)

8.4.2.2 सेन्ट टॉमस अक्वाइनस (१२२५–१२७४ ईस्वी)

8.4.3 आधुनिक पाश्चात्य दर्शन

8.4.3.1 बेनेडिक्ट स्पिनोजा (१६३२–१६७७ ईस्वी)

8.4.3.2 जॉन लॉक (१६३२–१७०४ ईस्वी)

8.4.3.3 इमैनुअल कान्ट (१७२४–१८०४ ईस्वी)

8.4.3.4 योहन गॉटलीब फिश्ट (१७२४–१८०४ ईस्वी)

8.4.3.5 आर्थर शॉपनहावर (१७८८–१८६० ईस्वी)

8.5 मूसा के दस धर्मादेश

8.6 सारांश

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

8.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में मूल्यों के ह्रास के विषय में आपने भारतीय दृष्टिकोण देखा कि किस तरह धर्म की ग्लानि या धर्म का अभाव ही अधर्म की उत्पत्ति अथवा मूल्यों के ह्रास का मूल है। मूल्य ह्रास की प्रक्रिया सार्वभौमिक है, वह हर राष्ट्र, हर संस्कृति की समस्या है। इस समस्या को पश्चिम में किस तरह देखा गया है, इसका अध्ययन हम प्रस्तुत इकाई में करेंगे।

जिस तरह वेद, पुराण, रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति का आदिकाल है, उसी तरह प्राचीन ग्रीक दर्शन पाश्चात्य संस्कृति का आदिकाल है। भारत में जिन अर्थों में धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, लगभग उन्हीं अर्थों में पश्चिम में अंग्रेजी के virtue शब्द का प्रयोग है। अनेकों शब्दकोशों को खंगालने के बाद अपतजनम शब्द के लिए जो निकटतम अनुवाद प्राप्त होता है, वह है – सद्गुण और सदाचार। इस लिए प्राचीन ग्रीस (यूनान) से लेकर आधुनिक पाश्चात्य परम्परा तक पाश्चात्य दर्शन में विवेचना का मूल प्रश्न है कि – मनुष्य के लिए सर्वोत्कृष्ट सदाचार या सद्गुण क्या है, उसकी प्राप्ति का मार्ग क्या है, और पथभ्रष्ट हुए मनुष्यों के दुर्गुणों या दुराचार का कारण क्या है?

इस इकाई में हम पश्चिम के बारह दार्शनिकों के मूल्य–विषयक मत के बारे में संक्षेप में मगर सारगर्भित अध्ययन करेंगे। साथ ही पश्चिम के अत्यन्त प्राचीन तथा महत्वपूर्ण दस्तावेज मूसा के 'दस धर्मादेश' पर भी एक निगाह डालेंगे।

8.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जान जायेंगे कि

- पाश्चात्य परम्परा के अध्ययन की क्या आवश्यकता है।
- पाश्चात्य दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली का हिन्दी रूपान्तरण कैसे करते हैं।
- प्राचीन ग्रीस से आधुनिक काल तक पश्चिम के प्रमुख दार्शनिकों के मूल्य विषयक मत क्या हैं।
- मूसा के दस धर्मादेश कौन से हैं।

8.3 पाश्चात्य परम्परा के अध्ययन की आवश्यकता

आज के युग में वैश्विक बाजार तन्त्र और आधुनिक टेक्नॉलजी ने विश्व को एक गाँव में तब्दील कर दिया है। और इस गाँव में रहना है, तो गाँव के तौर–तरीके तो जानने ही होंगे। किसी भी समाज के तौर–तरीके, रीति–रिवाज उसके शासक वर्ग से

प्रभावित होते हैं। हमारे राज्य में यदि वामपन्थी दल में सत्ता में है, तो उनकी मान्यताएं माननी होंगी, यदि दक्षिणपन्थी सत्तारूढ़ हैं, तो उनके अनुसार चलना होगा। हमारा देश यदि अंग्रेजों का उपनिवेश है, तो अंग्रेजी संस्कृति सर्वोपरि है, यदि फ्राँसीसी उपनिवेश हुआ तो फ्राँसीसियों का चाल–चलन अपनाना हमारी व्यावहारिक आवश्यकता है। आज के सन्दर्भ में यह नकारा नहीं जा सकता कि इस वैश्विक गाँव में प्रभुत्व तो पश्चिम का ही है। इसलिए पश्चिम के विचारों से भिज्ञता हमारी व्यावहारिक अनिवार्यता है।

परन्तु ज्ञान के मार्ग में हमें एक और बात का बोध होना चाहिए। हर संस्कृति के ज्ञान की एक अपनी विशिष्ट भूमि है, और एक भूमि के जीव या वनस्पति किसी दूसरी भूमि पर पूर्ण जीवन्तता से विकसित नहीं हो सकते। देवदार के वृक्ष का सौन्दर्य निःसन्देह अनुपम है, परन्तु वह हिमालय की उचाइयों पर ही हो सकता है, पहाड़ की तलहटी में नहीं। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण नें बहुत पहले आगाह किया था –

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।

(गीता, ३.३५)

अपना धर्म, अपनी संस्कृति, अपने रीति–रिवाज कितने भी टेढ़ें–मेढ़ें हों, विजातीय संस्कृति में महारत पाने से लाख गुना अच्छे हैं। अपने घर में नल ठीक काम नहीं कर रहा है, तो उसे ठीक कर लीजिए, पड़ोसी का नल मत उखाड़ के लाइए क्योंकि वह आपके यहाँ फिट ही नहीं होगा। इसीलिए सनातन मान्यता है कि विदेशी को गुरू मत बनाइए। अरस्तू कितने भी बड़े दार्शनिक हों, वह टॉम और जोजफ के गुरु हो सकते हैं, भगवान दास के नहीं। अपने पूर्वजों की बात आपको जितनी सुगमता से ग्राह्य हो सकती है, उस तरह सारी उम्र साधने के बाद भी पाश्चात्य विचारकों की बातें पूरी तरह पल्ले नहीं पड़ती। भारतवर्ष के अंग्रेजी साहित्य के तमाम पुरोधा विद्वानों को जीवन के अन्तिम पड़ाव में शरण रामायण और श्रीमद्भागवत में मिली न कि शेक्सपीयर में।

इस बोध के साथ यदि पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन किया जाय, तो वह अत्यन्त आनन्ददायक है। भारतीय दर्शन की सनातन मान्यता रही है – "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"। सत्य हो या ईश्वर, वह तो एक ही है। जन्म–मृत्यु, हर्ष–शोक हों या गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त, वे अंग्रेज या हिन्दुस्तानी, हिन्दू या मुसलमान, मनुष्य या घोड़ा – सबके लिए एक ही हैं। हाँ, यह जो सत्य है, उसका वर्णन विद्वान लोग भिन्न भिन्न प्रकार से करते हैं। बुद्ध हों या यीशु, उनका अपने चेलों को यह सत्य समझाने का तरीका अलग अलग है। लेकिन वर्णन–भेद वस्तु–भेद स्थापित नहीं करता। किस कालखण्ड में किसने और किसके लिए बोला, यही वर्णन की भिन्नता के मूल में है। और जब बुद्धि भेद ही भेद देखनें में तल्लीन हो – हिन्दू और मुसलमान में क्या भेद है, कुत्ता और बिल्ली में क्या भेद है – तो यह भेद इतना गहरा जाता है कि लोग नफरत और

हिंसा पर उतर आते हैं। परन्तु यही बुद्धि जब सनातन, सार्वभौमिक, एक को साधने लगती है, तो सारे भेद गौण हो जाते हैं। फिर तो पुरुष हो या स्त्री, आदमी हो या गाय, कृष्ण हों या मोहम्मद, भारतीय दर्शन हो या पाश्चात्य, सभी के केन्द्र में वही एक सार्वभौमिक सत्य प्रकाशमान दिखता है। सार्वभौमिक सत्य की तलाश ही स्वाध्याय के वैश्विक विस्तार का मूल है।

8.4 सर्वोत्कृष्ट मानव मूल्य; मूल्यह्रास के कारण एवं निदान

पाश्चात्य चिन्तन की विवेचना के पूर्व आवश्यक है कि वहाँ प्रयुक्त होने वाली प्रमुख शब्दावली को समझ लिया जाय। पाश्चात्य मान्यता है कि Happiness जीवन का एकमात्र परम उद्देश्य है। शब्दकोश में हैपिनेस का अर्थ सुख या प्रसन्नता है। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" के आलोक में यदि इसी विचार को भारतीय चिन्तन में तलाशें, तो हमें आनन्द शब्द मिलता है। उपनिषद् कहता है कि हमारी उत्पत्ति आनन्द में है, आनन्द में ही हम अवस्थित हैं, और आनन्द में ही हमारा विलय है। इसी प्रकार Virtue शब्द का अर्थ सदाचार मिलता है, परन्तु वर्चू उपनिषद् के श्रेयस के अधिक करीब दिखती है। ऐसे ही, Morality का अनुवाद नैतिकता है; लेकिन नैतिकता तो नीति से बनी है – जैसे राजनीति, या नीतिशास्त्र। पश्चिम का Moral Order शाश्वत ईश्वरीय विधान में निहित है, इसलिए उसे धर्म के रूप में ही परिभाषित किया जाना उचित होगा। इस कड़ी में हमारा अन्तिम शब्द Reason या Rationality है, जो अपने मूल भाव में प्रायः प्रयुक्त तर्क या बौद्धिक विश्लेषण जैसे शब्दों से अधिक विवेक शब्द के निकट है। विवेक सत् और असत् का ज्ञान है।

किसी भी दार्शनिक चिन्तन का प्राथमिक प्रश्न है कि मानव जीवन का प्रयोजन क्या है? हम क्यों और क्या करने के लिए पैदा हुएँ हैं धरती पर? हम क्या ढूँढ़ रहे हैं, क्या पाना चाहते हैं? किसलिए इतनी भागदौड़, इतना संघर्ष, इतना परिश्रम? क्या मानव जीवन का उद्देश्य सर्वजीवन के उद्देश्य से इतर है, या दोनों एक ही होने चाहिए? पाश्चात्य दर्शन का सम्पूर्ण नीतिविचार इन्हीं प्रश्नों के उत्तर की तलाश है।

पाश्चात्य परम्परा को इतिहास के तीन कालखण्डों में विभाजित किया जाता है – प्राचीन ग्रीस, मध्यकालीन और आधुनिक युग। इस परम्परा की सम्पूर्ण जड़ें प्राचीन ग्रीस के चिन्तन में अवस्थित हैं। मध्यकालीन और आधुनिक चिन्तन उन्हीं जड़ों का वृक्ष–विस्तार है। वैसे तो एक अद्भुत, अद्वितीय गुरु–शिष्य परम्परा के सुकरात, प्लेटो और अरस्तू ग्रीक दर्शन के मूलभूत स्तम्भ कहे गये हैं, परन्तु सुकरात के पूर्व और अरस्तू के बाद भी यूनान में श्रेष्ठ विचारक रहे हैं। इस इकाई की विषयवस्तु के परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण परम्परा के विहंगावलोकन हेतु हम यहाँ केवल कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध विचारकों का उल्लेख करेंगे।

8.4.1 प्राचीन ग्रीस–

8.4.1.1 डिमॉक्रिटस (४६०–३७० ईसा पूर्व)

सुकरात से पूर्व प्रसिद्ध विचारकों में डिमॉक्रिटस का नाम आता है, जिन्हें आधुनिक परमाणु विज्ञान का जनक कहा जाता है। डिमॉक्रिटस मानते थे कि सुख या आनन्द की प्राप्ति ही जीवन का एकमात्र परम उद्देश्य है, परन्तु यह सुख धन–सम्पदा से नहीं प्राप्त होता। इसके लिए संयम और सामञ्जस्य के साथ एक समरसतापूर्ण जीवन जीने की कला आनी चाहिए।

8.4.1.2 सुकरात (४७०–३९९ ईसा पूर्व)

सुकरात का मानना था कि ज्ञान की प्राप्ति ही मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट कर्म है। ज्ञान की उपस्थिति में ही सर्वोपरि श्रेयस्कर सदाचार हैय तथा सदाचार और सुख अभिन्न रूप से साथ चलते हैं। केवल सदाचारी व्यक्ति को ही सुख की प्राप्ति सम्भव हैय दुराचारी अनिवार्य रूप से सदैव दुखी जीवन के नर्क में जीने के लिए अभिशप्त है। केवल ज्ञान से सत् और असत् का विवेक प्राप्त होता है। सद्बुद्धि से ही सदाचार सम्भव है। सुकरात कहते थे कि कोई व्यक्ति जानबूझ कर पापमार्गी नहीं होता, न कोई अनजाने मे अच्छा होता है। जो जिसको सही लगता है, वही करना मनुष्य की फितरत में है। परन्तु जो गलत को सही बताती है, वही दुर्बुद्धि है। जो चोरी करते हैं, रिश्वत लेते हैं, हत्या करते हैं, जो आतंकवादी हैं, उन्हें भी लगता है कि वे सही कर रहें हैंय क्योंकि बिना स्वयं के सही होने की आस्था के किसी भी कार्य को सम्पादित करने के लिए आवश्यक संकल्पशक्ति पैदा ही नहीं हो सकती। पापकर्म को धर्म समझने की विभीषिका से केवल ज्ञान ही मुक्ति दिला सकता है। इसीलिए सुकरात का अटूट विश्वास था कि ज्ञान में ही मनुष्य की सभी बुराइयों का निदान है।

"मैं तुम्हें यह बात अच्छी तरह से समझाना चाहता हूँ," सुकरात ने कहा, "कि धन से सदाचार नहीं प्राप्त होता, बल्कि सदाचार से ही धन और अन्दर बाहर की सभी सम्पदाएं प्राप्त होती हैं।" ठीक यही बात अपने सम्पूर्ण विस्तार में भारतीय चिन्तन में कही गयी है– "विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वं अरोगता। राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मात् अवाप्यते।।"

8.4.1.3 प्लेटो (४२८–३४८ ईसा पूर्व)

प्लेटो अपने महान गुरू सुकरात के श्रेष्ठतम शिष्य हैं। पाश्चात्य परम्परा में उनके जैसा दूसरा कोई नहीं है। वे पाश्चात्य परम्परा की आधारशिला और सर्वोच्च शिखर दोनों एक साथ हैं। प्लेटो मानते हैं कि सृष्टि की संरचना मूल रूप में

आध्यात्मिक और न्यायसंगत है। इन्द्रियों की सूझबूझ में रचा बसा भौतिक जगत शाश्वत का केवल एक चलायमान छायाचित्र है। यह छायाचित्र क्षणभंगुर और चलायमान हैय इसका मूल्य दो कौड़ी के बराबर भी नहीं है। केवल वही मूल्यवान है, जो शाश्वत है। प्लेटो का मानना था कि शरीर एक कारागार है जिसमें आत्मा कैद पड़ी हैय इसलिए इस मिट्टी के संसार से शीघ्रातिशीघ्र मुक्त हो खुले आकाश में उड़ान भरना आत्मा का परम उद्देश्य है। शाश्वत के ध्यान में भावसमाधिस्थ हो जाना ही मानव जीवन की चरम गति है। सब कुछ छोड़छाड़ कर तपस्वियों का जीवन जीने की पाश्चात्य धारा (asceticism) के जनक प्लेटो ही हैं।

विवेक (Reason) ही दिखा सकता है कि सदाचार क्या है, धर्म (Virtue) क्या है, क्योंकि विवेक ही आध्यात्मिक शिखरों पर उड़ान भरने मे सक्षम है। इसलिए विवेक का वरण करना और उसे चरमोत्कर्ष तक ले जाना ही मानव जीवन का श्रेष्ठतम कर्म है। प्लेटो कहते थे कि विवेक, साहस और संयम व्यक्ति को ईमानदार बनाते हैं। जिसके पास यह तीनों होते हैं, ऐसा व्यक्ति न तो चोरी कर सकता है, न विश्वासघात और न ही राष्ट्रद्रोह, या इनसे मिलते जुलते अन्य पापकर्म। गुरू की सीख दोहराते हुए, प्लेटो भी कहते हैं कि केवल ऐसा ही व्यक्ति सुख का अधिकारी है।

8.4.1.4 अरस्तू (३८४–३२२ ईसा पूर्व)

प्लेटो के शिष्य अरस्तू अपनी गुरू–परम्परा को आगे बढ़ाते हुए स्थापित करते हैं कि मनुष्य के लिए सर्वोच्च शुभ आत्मबोध है। अपने स्वभाव और स्वधर्म का प्राकट्य ही किसी भी व्यक्ति या वस्तु के लिए एकमात्र शुभ कर्म है। हर व्यक्ति और वस्तु का एक वैशिष्ट्य है, जो उसे औरों से अलग करता है, इसी का बोध प्राप्त होना ही जीवन का उद्देश्य है। अरस्तू के मतानुसार जब व्यक्ति श्रेष्ठत्व से अभिप्रेरित हो सभी के कल्याण के लिए राष्ट्रसेवा को समर्पित हो, तभी उसे आत्मबोध की प्राप्ति सम्भव है। चिन्तन, मनन और ध्यान में निमग्न होना ही मनुष्य के लिए सर्वोच्च सुख, सर्वोच्च आनन्द है। इससे अधिक मूल्यवान मनुष्य के लिए और कुछ नहीं है। उसके लिए जो निकृष्ट है, उसमें प्रमुख हैं – अहित करने का भाव, बेशर्मी, ईर्ष्या, परस्त्रीगमन, चोरी और हत्या। जिस तरह श्रेष्ठ कर्मों का वरण मनुष्य का धर्म है, वैसे ही इन नीचकर्मों का त्याग भी उसका धर्म है।

8.4.1.5 वैराग्य या तितिक्षावादी दर्शन (Stoicism) (ईसा पूर्व तीसरी सदी से तीसरी सदी ईस्वी तक)

अरस्तू के बाद यानि तीसरी सदी ईसा पूर्व से लगभग तीसरी सदी तक जिस दार्शनिक विचारधारा का प्रभुत्व पश्चिम में रहा, वह तितिक्षावादी दर्शन या स्टोइसिज्म

(Stoicism) के नाम से प्रसिद्ध है। इस परम्परा के अन्तिम महत्वपूर्ण दार्शनिक रोम के सम्राट मार्कस ओरीलियस थे, जिनकी पुस्तक 'मेडिटेशन्स' आज भी किसी अच्छी पुस्तक की दुकान में मिल जाती है। बिना चेहरे पर शिकन लाए सुख–दुख सभी कुछ सह लेना ही तितिक्षा है। तितिक्षा की साधना केवल पश्चिम तक सीमित नहीं है। भारत में भी साधु–सन्तों, वैरागियों और तपस्वियों की लम्बी परम्परा है जिसमें तितिक्षा उनकी साधना के केन्द्र में रही है। हाँ, पश्चिम के तितिक्षावादी दर्शन का एक अपना वैशिष्ट्य है।

स्टोइक्स या तितिक्षावादी ग्रीक और रोमन दार्शनिकों की आधारभूत मान्यता है कि सम्पूर्ण सृष्टि में एक सामञ्जस्यपूर्ण एकत्व है। सृष्टि में अर्थवत्ता है, उसका प्रयोजन हैय वह अर्थहीन नहीं है। सृष्टि के विधान की पृष्ठभूमि में चौत्यपुरुष ईश्वर की सत्ता है। मनुष्य ईश्वरीय अग्नि की चिंगारी हैय उसका सृष्टि के साथ वही सम्बन्ध है जो बूँद और समुद्र के मध्य है। इसीलिए मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह सृष्टि की गति के साथ तादात्म्य स्थापित करे। यह तभी सम्भव है जब अन्तरात्मा में सामञ्जस्य की शान्ति हो। ऐसी अवस्था की प्राप्ति केवल विवेक द्वारा हो सकती है। सदाचार या श्रेय का मार्ग ही मनुष्य का श्रेष्ठतम शुभ कर्म (Virtue) है; यही श्रेष्ठतम सुख है, आनन्द है।

स्टोइक्स भी प्राचीन ग्रीक दर्शन की भाँति मानते हैं कि कोई भी व्यक्ति पापमार्गी होनें की इच्छा नहीं करता। वह पापमार्गी होता है विवेकहीन निर्णयों के कारण। भ्रमित मन, झूठ का संसार और अनेकानेक वासनाएं उसे इस मार्ग पर अभिप्रेरित करती हैं। ऐसी अभिप्रेरणा के मूल में मुख्य रूप से चार तीव्र वासनाएं (passions) हैं – इन्द्रियजन्य सुख, इच्छा, शोक और भय। वर्तमान के शुभाकांक्षी दिग्भ्रमित मन में इन्द्रियजन्य सुखों की चाह उठती हैय भविष्य का शुभाकांक्षी मन इच्छाओं का मायाजाल रचता है; वर्तमान के अशुभ से ग्रसित दिग्भ्रमित मन में शोक पैदा होता हैय तथा भविष्य के अशुभ की कल्पना से विवेकहीन मनुष्य भयग्रस्त हो जाता है। हमारे तमाम कष्टों और पापों के पीछे यही चार अनेकानेक रूपों में विद्यमान हैं। इन्हें कम ही नहीं, जड़ से ही खत्म करना जीवन की साधना है। और इसके लिए अदम्य साहस तथा संयम आवश्यक है।

अभ्यास प्रश्न – 1

बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. निम्नलिखित में virtue शब्द का अर्थ है–

क. सद्गुण ख. साहस ग. धर्म घ. गुणवान ।

2. निम्नलिखित में ''श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।'' उक्ति कहाँ की है –

क. महाभारत की ख. गीता की ग. रामायण की घ. उपनिषद की

3. आधुनिक परमाणु विज्ञान का जनक किसे कहा जाता है–

क. सुकरात को ख. अरस्तू को ग. प्लेटो को घ. डिमॉक्रिटस

4. प्लेटो के गुरू का क्या नाम था?

क. अरस्तू ख. सुकरात ग. डिमॉक्रिटस घ. कोई नहीं

5. एकं सद्विप्रा .... वदन्ति ।

क. बहुधा ख. ब्रह्म ग.सत्यं घ. अनेका

8.4.2 मध्यकालीन युग–

8.4.2.1 सेन्ट ऑगस्टीन (३५३–४३० ईस्वी)

आपने देखा कि प्राचीन ग्रीस से लेकर तितिक्षावाद तक पाश्चात्य चिन्तन की परम्परा ज्ञानमार्गी है। विवेक और ज्ञान से व्यक्ति सदाचार को प्राप्त होता हैय सन्मार्ग पर चलकर उसे सुख, शान्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है। मध्यकालीन युग में सेन्ट ऑगस्टीन से एक नयी विचारधारा का अभ्युदय होता है। सुख की नहीं, बल्कि ईश्वर की प्राप्ति मानव जीवन का लक्ष्य है। धरती पर हमारा जीवन ईश्वर तक पहुँचने की तीर्थयात्रा है। प्रेम से ही ईश्वर प्राप्ति सम्भव है, अतः प्रेम ही व्यक्ति का सर्वोच्च धर्म (Virtue) है।

धर्म के मार्ग पर मुड़ने के लिए तीन गुण आवश्यक हैं – श्रद्धा, आशा एवं दान (Faith, Hope and Charity)। ऑगस्टीन कहते हैं – "प्रेम के बिना श्रद्धा की अर्थवत्ता नहीं है। श्रद्धा के बिना आशा नहीं है, आशा के बिना प्रेम नहीं है, और प्रेम के बिना आशा नहीं है। तथा श्रद्धा के अभाव में न तो प्रेम सम्भव है, न ही आशा।" परन्तु ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति मिलेगी कैसे?

ज्ञानमार्गी ग्रीक की मान्यता थी कि ज्ञान, विवेक, सदाचार की प्राप्ति चिन्तन, मनन, ध्यान, साहस, संयम और तपस्या से होती है। यानि, मनुष्य की इच्छाशक्ति, संकल्प और लगन उसे सब कुछ दिला सकती है। मनुष्य चाहे तो कुछ भी प्राप्त कर सकता है। इन स्थापित मान्यताओं के विपरीत, पहली बार ऑगस्टीन ने सीख दी कि यह ईश्वरीय प्रेम और भक्ति हमारे आपके प्रयास से नहीं मिलने वाली। यह केवल प्रभु की कृपा (Divine Grace) से प्राप्त होती है। कुछ ऐसी ही बात कठोपनिषद् में कही गयी है–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।। यह आत्मा न तो प्रवचन, न मेधा, न बहुत

पढ़ने–सुनने से मिलती हैय यह स्वयं जिसका वरण करती है, उसी को प्राप्त होती है।

मार्ग प्रतिपादित करते हुए ऑगस्टीन कहते हैं कि प्रभु की कृपा का आग्रहवान बनने के लिए संसार और सामाजिक जीवन का त्याग कर मठ में तपस्वियों का जीवन जीना होगा।

8.4.2.2 सेन्ट टॉमस अक्वाइनस (१२२५–१२७४ ईस्वी)

ऑगस्टीन और अक्वाइनस के मध्य नौ शताब्दियों का अन्तराल है, परन्तु दोनों के चिन्तन में बेहद साम्यता है। इन तमाम विचारकों के अध्ययन से एक और बात स्पष्ट होती है कि ये सब के सब पूर्णरूप से अपनी परम्परा में स्थापित हैं। अगर यह दस बात कहते हैं, तो उनमें से नौ उनके पूर्वजों द्वारा पहले ही कही जा चुकी है, वे सिर्फ पुनः उन्हें नये ढंग से व्याख्यायित कर रहे हैं। उदाहरण स्वरूप, जब अक्वाइनस कहते हैं कि चिन्तन और ध्यान मनुष्य का सर्वोच्च कर्म है, तो हम पाते हैं कि वे सोलह सौ वर्ष पूर्व अरस्तू की कही बात को दोहरा रहे हैं। इसी तरह अपनी व्याख्या में वे ऑगस्टीन की प्रेम और कृपा की अवधारणा को पुनः स्थापित करते हैं।

तितिक्षावाद की मान्यता दोहराते हुए अक्वाइनस सृष्टि की अर्थवत्ता व्याख्यायित करते हैं। वह कहते हैं कि प्रभु के सत्यं–शिवं–सुन्दरम् स्वरूप का प्राकट्य ही सृष्टि का प्रयोजन है। हर व्यक्ति या वस्तु सृष्टि का अभिन्न अंग है, इसलिए उसका भी प्रयोजन यही प्राकट्य है। इसी प्राकट्य में व्यक्ति आत्मबोध या अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त करता है।

पुण्यकर्म जन्मना नहीं प्राप्त होतेय वे व्यवहरित होने पर ही फलते फूलते हैं। ऑगस्टीन के बताए हुए सद्गुण – श्रद्धा, आशा और दान – मानवीय प्रयास से नहीं प्राप्त होते। प्रभु के अनुग्रह और उनकी कृपा (Divine Grace) से ही अन्तरात्मा में सद्गुणों का अभ्युदय होता है। परन्तु सदाचार से वैकुण्ठ की प्राप्ति नहीं होतीय वह तो एकमात्र प्रभु की कृपा से ही मिलता है। ऑगस्टीन की तरह अक्वाइनस भी मानते हैं कि आध्यात्मिक जीवन के लिए ब्रह्मचर्य, भोग की वस्तुओं का सर्वथा त्याग तथा आदेश–पालन (celibacy, poverty, and obedience) अनिवार्य हैं। ऐसा जीवन केवल मठ में ही सम्भव है।

स्टोइक्स की तीव्र वासनाओं (passions) पर टिप्पणी करते हुए अक्वाइनस कहते हैं कि इन्द्रियजन्य वासनाएं स्वयं में बुरी नहीं है, वे बुरी बनती हैं विवेक के अभाव में अनियन्त्रित होने से। वस्तुएं अपनी उत्पत्ति, रूप और प्रभाव के दोष से दोषपूर्ण होती हैं। परन्तु व्यक्ति के नैतिक दुराचार या पापकर्म उसके संकल्प में आधारभूत दोष के

कारण हैं। बुद्धि और विवेक द्वारा शुभ की परिकल्पना ही व्यक्ति की संकल्पशक्ति का निर्धारण करती है। परन्तु जब आत्मा की दृष्टि या विवेक के नियन्त्रण का अभाव हो, तो संकल्पशक्ति के मूलाधार में भयंकर दोष उत्पन्न हो जाता है। आत्मदृष्टिहीन धृतराष्ट्र ही सभी पापों और शैतानी ताकतों के जनक हैं।

8.4.3 आधुनिक पाश्चात्य दर्शन–

8.4.3.1 बेनेडिक्ट स्पिनोजा (१६३२–१६७७ ईस्वी)

सत्रवहीं सदी के स्पिनोजा अपनी बात चौथी–पाँचवीं सदी के ऑगस्टीन से ही प्रारम्भ करते हैं कि ब्रह्मज्ञान ही मनुष्य का सर्वोच्च शुभ और सदाचार (highest good and virtue) है। परन्तु वे यहाँ एक नयी बात जोड़ते हैं कि सत्ता चाहे व्यक्ति की हो या वस्तु की, उसके केन्द्र में एक अदम्य जिजीविषा होती है। इसलिए सदाचार और शक्ति अभिन्न हैं। शारीरिक, मानसिक या अन्य किसी तरह की शक्ति को जो क्षीण करते हैं, वे दुराचार हैं; जो शक्ति की वृद्धि करते हैं, वे सदाचार हैं। दैन्य और शोक शक्ति क्षीण करते हैं, आनन्द और प्रसन्नता उसकी वृद्धि करते हैं। वासना शक्ति नहीं, कमजोरी है, दासता है।

व्यक्ति की तलाश उस वस्तु या कर्म की होती है जो उसके लिए उपयोगी हो। परन्तु आत्मा के लिए केवल वही उपयोगी है जो ज्ञान की प्राप्ति में सहायक हो। ज्ञान की खोज में ही सच्चा आनन्द है। परमसत्ता के साक्षात्कार की अनुभूति ही आनन्द है।

विवेकी व्यक्ति जो सब के लिए शुभ है, केवल उसी की चाह रखता है। इसीलिए वह सदैव ईमानदार, विश्वासपात्र और आदरणीय होता है। इसीलिए शत्रु के प्रति भी प्रेम रखना नेकनीयती है। घृणा, क्रोध, प्रतिशोध, ईर्ष्या और तिरस्कार पापाचार हैं।

8.4.3.2 जॉन लॉक (१६३२–१७०४ ईस्वी)

अंग्रेज दार्शनिक जॉन लॉक स्पिनोजा के समकालीन हैं। जिस तरह जिजीविषा स्पिनोजा के चिन्तन के केन्द्र में है, उसी तरह सुख और दुख की अनुभूति लॉक के चिन्तन का आधार है। जो सुखदायी है, वह शुभ हैय जो दुख दे, वह अशुभ है। सुख–दुख ही नैतिकता के शिक्षक हैं।

8.4.3.3 इमैनुअल कान्ट (१७२४–१८०४ ईस्वी)

आधुनिक काल के विचारकों में जर्मन दार्शनिक इमैनुअल कान्ट को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। वे रूसो के इस मत से सहमत दिखते हैं कि शुभ संकल्प के अतिरिक्त

न इस संसार में, न संसार के परे कुछ भी पूर्णरूपेण शुभ है। परन्तु वे आगे कहते हैं कि संकल्प वही शुभ है जिसके मूल में धर्म और अपने शुद्ध उत्तरदायित्वों के प्रति आदरभाव हो। सर्वोच्च शुभ में सदाचार और सुख की एक साथ उपस्थिति होती है। जिस सदाचार में सुख न हो, वह उच्चतम स्थिति नहीं हो सकती। धर्म के प्रति आदरभाव नैतिकता का मूल है। जो धर्म (moral law) से नियन्त्रित है, वह मुक्त है। संस्कारविहीन व्यक्ति इच्छा और वासना के संसार में फुटबॉल की तरह ठोकर खाता भटकता है। वासनाएं स्वार्थी सन्तुष्टि का भाव हैं। धर्म ही वासनाओं पर नियन्त्रण कर सकता है। धर्म का आचरण धर्म के लिए होता है, किसी उद्देश्य–प्राप्ति के लिए नहीं।

8.4.3.4 योहन गॉटलीब फिश्ट (१७२४–१८०४ ईस्वी)

जर्मन आदर्शवाद के पुरोधा फिश्ट ने कर्तव्यपरायणता को अपने दर्शन का केन्द्र बनाया। उन्होंने कहा कि मनुष्य का कर्म कर्तव्य पालन, सचेत होकर स्वेच्छा से सर्वोच्च शुभ का प्राप्ति, तथा अन्तर्दृष्टि को सार्वभौमिक धर्मतत्व पर केन्द्रित रखना है। मनुष्य को अपनी नैसर्गिक अवस्था का अतिक्रमण करते हुए उर्ध्वगामी गति प्राप्त करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। शुभ का संकल्प बिना व्यवहरित हुए बोध की अवस्था को नहीं प्राप्त हो सकता। सत्य, आस्तेय, अपरिग्रह, अहिंसा जैसे शुभ संकल्प के व्यवहार में अन्दर–बाहर की तमाम अधोगामी प्रवृत्तियों से जूझना पड़ता है। इसलिए फिश्ट का मानना है कि धर्म का मार्ग अनवरत संघर्ष का पथ है।

फिश्ट कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से अपने स्वधर्म के अनुरूप अपना कार्यक्षेत्र चुनना चाहिए। परन्तु उचित चयन कर पाने की क्षमता के लिए सही शिक्षा अनिवार्य है। सही शिक्षा ही अन्तश्चेतना जाग्रत कर सकती है। बिन गुरु होंहि न ज्ञान। बिना अन्तःकरण के प्रकाशित हुए कर्तव्यबोध सम्भव नहीं है। फिश्ट का मानना था कि अन्तश्चेतना की वाणी ही ईश्वर की वाणी है।

फिश्ट ने लिखा – "मुझे सम्पूर्णता में अपने कार्यक्षेत्र का बोध नहीं हैय मुझे क्या होना चाहिए, और मैं क्या होऊँगा, यह मेरी बुद्धि के परे हैय परन्तु मुझे हर क्षण बोध रहता है कि मुझे जीवन में अनिवार्य रूप से क्या करना चाहिए – मुझे अनिवार्य रूप से अपना विवेक और बुद्धि विकसित करना है, ज्ञान प्राप्त करना है, ताकि मुझे अपने कर्तव्य के वृहत्तर क्षेत्र का बोध हो सके। शरीर और आत्मा सहित मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व कर्तव्य पालन के ही निमित्त है। "

8.4.3.5 आर्थर शॉपनहावर (१७८८–१८६० ईस्वी)

एक अन्य प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शॉपनहावर का चिन्तन है कि सहानुभूति एवं करुणा धर्म और नैतिकता का मूल हैं। मानव जाति की सम्पूर्ण दुष्टता उसके

आत्मकेन्द्रित जीवन के कारण है। किसी भी कार्य के कल्याणकारी होने के लिए उसकी उद्भूति सहानुभूति से होनी चाहिए। यदि स्वयं के कल्याण के लिए कार्य जाय तो उसका नैतिक मूल्य शून्य से अधिक कुछ नहीं है। वहीं दूसरों के अहित के लिए किया गया कार्य पूर्णरूपेण पापकर्म है।

चूँकि आत्मकेन्द्रित संकल्प ही हमारे सभी पाप और दुखों का मूल है, इसलिए आत्मकेन्द्रित इच्छाओं का दमन करते हुए संकल्पशक्ति को जड़ से उखाड़ कर ही मनुष्य सुख और शान्ति पा सकता है। इस आत्मकेन्द्रित संकल्पशक्ति से मुक्ति के कई मार्ग हैं। कला और दर्शन के परमतत्वों के चिन्तन–मनन में आत्मकेन्द्रित अवस्था से मुक्ति है, परन्तु यह स्थायी नहीं है। जीवन के सार स्वरूप संसार की दुष्टता, इच्छाओं की अर्थहीनता, तथा वैयक्तिक अस्तित्व का भ्रम आदि का चिन्तन–मनन भी कुछ हद तक आत्मकेन्द्रियता से छुटकारा दिला सकता है। यदि इस तरह के चिन्तन–मनन के साथ यह बोध भी हो कि सभी प्राणियों में एक ही परमसत्ता का वास है – 'यो माम् पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति', सृष्टि का सम्पूर्ण प्राकट्य उसी परमसत्ता का प्राकट्य है, तो हृदय में सभी प्राणियों के लिए सहानुभूति और करुणा का भाव उदय होता है, फिर सभी के दुख अपने दुख लगते हैं। परन्तु यह मुक्ति भी स्थायी नहीं है।

शॉपनहावर कहते हैं कि ईसाई तपस्वियों तथा बौद्ध सन्यासियों की भाँति संकल्पशक्ति को जड़ से ही समाप्त कर स्थायी मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

मूल्य ह्रास के कारण एवं निदान को पाश्चात्य दृष्टि से समझने के लिए हमने डिमॉक्रिटस से लेकर शॉपनहावर तक बारह दार्शनिकों के विचारों का अध्ययन किया। संक्षेप में देखा जाय तो सभी एक ही बात कहते हैं कि बुद्धि, विवेक और ज्ञान के अभाव में ही पापकर्मों की उत्पत्ति होती है। स्वार्थी मन भी उसी अज्ञान का परिणाम है। निदान के दो मार्ग सुझाये गये हैं – एक तो ज्ञान का मार्ग है, और दूसरा प्रेम, भक्ति एवं ईश्वरीय कृपा का पथ है।

8.5 मूसा के दस धर्मादेश (Ten Commandments of Moses):

मूसा के दस धर्मादेशों को पाश्चात्य संस्कृति का आधार स्तम्भ कहा जा सकता है। मूसा (Moses) को यहूदी, इस्लाम और ईसाई धर्मों में एक प्रमुख नबी या ईश्वरीय सन्देशवाहक माना गया है। वे यहूदी धर्म के संस्थापक और इस्लाम धर्म के पैगम्बर माने जाते हैं। ऐसी मान्यता है कि उनका जन्म ईसा से १५०० वर्ष पूर्व हुआ था। इसलिए उनका कालखण्ड ग्रीक दार्शनिको से भी एक हजार वर्ष पूर्व का है। मूसा के 'दस धर्मादेश' या 'दस फरमान' का वर्णन कुरान और बाइबल दोनों में मिलता है। मूसा को यह धर्मादेश सीधे साक्षात ईश्वर से प्राप्त हुए थे, ऐसी मान्यता है। यह धर्मादेश पाश्चात्य

संस्कृति की मूल संरचना में शताब्दियों से व्याप्त रहा है। इसलिए पाश्चात्य विचारों को भलीभाँति समझने के लिए इन धर्मादेशों की चर्चा अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

किसी भी दार्शनिक विचार को जब संकुचित अर्थ में, या घोर अज्ञान की दृष्टि से देखा जाता है, तो अनावश्यक अर्थहीन मतभेद सामने आते हैं। किन्तु यदि हम "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" के आलोक में इसी विचार को उसके वृहत्तर अर्थ में देखें, तो हमें सत्य के शाश्वत स्वरूप का दर्शन प्राप्त होता है। इसलिए हम यहाँ दार्शनिक दृष्टि से इन धर्मादेशों को समझने का प्रयास करेंगे।

परमेश्वर ने मूसा से कहा– "मैं तुम्हारा परमेश्वर यहोवा हूँ, जिसने तुझे मिस्र देश के दासत्व से मुक्ति दिलायी है।"

प्रथम आदेश : "तुम मुझे छोड़कर किसी अन्य को ईश्वर नहीं मानोगे।"

परमेश्वर एक ही है। वह दो नहीं हो सकता। कोई यदि कहे कि मनुष्य का ईश्वर घोड़ा के ईश्वर से भिन्न है, तो यह बात बिल्कुल मूर्खतापूर्ण सिद्ध होती है। परमेश्वर के अतिरिक्त कुछ अन्य अभीष्ट नहीं हो सकता। परन्तु व्यावहारिक जगत में हम देखते हैं कि लोगों के अनेकानेक उपास्य हैं – कोई किसी विचारधारा का उपासक है, तो कोई धन–सम्पदा, सफलता और प्रसिद्धि का, कोई अन्य अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए राजा या मन्त्री की उपासना में ही अपना जीवन समर्पित कर देता है। इसी अज्ञानमार्गी धारा – जिसमें यह भ्रामक प्रतीति होती है कि डॉक्टर या न्यायाधीश हमारी जान बचा सकता है, राजा हमें वैभव प्रदान कर सकता है – के प्रति यह आदेश हमें सचेत करता है। कुछ ऐसी ही बात भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं – "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।१८.६६।।" मूसा के माध्यम से बताये गये ईश्वर के इस आदेश को हमें गम्भीरता से लेना चाहिए, क्योंकि हमारे चारो तरफ फैले अज्ञानमार्गी धारा के प्रवर्तक चीख चीख कर कहते हैं कि मूसा या कृष्ण की शिक्षा व्यावहारिक नहीं है, उसे अमल में नहीं लाया जा सकता।

द्वितीय आदेश : "तुम न तो कोई प्रतिमा बनाओगे, न ही किसी प्रतिमा की उपासना करोगे।"

'बुद्धेः परतस्तु सः' (गीता ३.४२)। जो बुद्धि के परे है, बुद्धि या मन उसकी कल्पना कैसे कर सकता है? प्लेटो ने इसी आधार पर सिद्धान्त दिया कि सारा का सारा साहित्य झूठ है, क्योंकि वह किसी नकल की नकल है, असल नहीं है। नकल की उपासना तो दूर, नकल का संसार ही नहीं गढ़ोगे, यही इस आदेश का अर्थ है।

तृतीय आदेश : "तुम अपने परमेश्वर का नाम व्यर्थ में नहीं लोगे।"

ईश्वर की आराधना मुक्ति के लिए है, ज्ञान के लिए है, नौकरी पाने के लिए के नहीं। अर्थ स्पष्ट है।

चतुर्थ आदेश : "तुम विश्रामदिन (सप्ताह का सातवाँ दिन, रविवार) की पवित्रता सदैव स्मरण रखोगे।"

संसार की भागदौड़ मायानगरी में विचरण है। सप्ताह में एक दिन तो उससे छुट्टी चाहिए, ताकि पता चल सके कि इस तथाकथित व्यावहारिक जगत के आगे भी कुछ है, देहान्त के आगे भी यात्रा है।

पञ्चम आदेश : "तुम अपने माता–पिता का आदर करोगे।"

श्रवण कुमार के देश में इसे व्याख्यायित करने की आवश्यकता नहीं है।

षष्ठ आदेश : "तुम हत्या नहीं करोगे"

युधिष्ठिर से जैन मुनियों और गाँधी तक अहिंसा का उपदेश हमारे सामने है। परन्तु मानव समाज ने पिछले दो हजार वर्षों में दो हजार युद्ध लड़े हैं। ३५०० वर्ष पहले ईश्वर का यह आदेश प्राप्त हुआ था, परन्तु हमें आज तक सुनायी नहीं पड़ा है। मानवता के हजारों वर्षों के इतिहास में इससे बड़ा मूल्य ह्रास कोई और नहीं है। डिमॉक्रिटस से लेकर शॉपनहावर तक सब के सब यही समझने समझाने में लगे हैं कि ऐसा क्यों होता है।

सप्तम आदेश : "तुम परस्त्रीगमन (या परपुरुषगमन) नहीं करोगे।"

पापमार्गी होने के लिए सेक्स से सुलभ कोई अन्य रास्ता नहीं है। यहाँ यदि संयम प्राप्त कर लिया, तो अन्य परिस्थितियों में आसानी से संयम बरता जा सकता है।

अष्टम आदेश : "तुम चोरी नहीं करोगे।"

भारत में इसे आस्तेय का सिद्धान्त कहा गया है। चोरी असन्तोष और ईश्वर के प्रति अश्रद्धा का द्योतक है। हम देखते हैं कि कोई जानवर चोरी नहीं करता। जहाँ प्रकृति के साथ तादात्म्य का जीवन है, वहाँ चोरी का विचार नहीं है। चोरी चतुर लोग करते हैंय चोरी के लिए चतुर होना चाहिए। चोरी का सम्बन्ध गरीबी से नहीं है। बड़े बड़े लोग बड़ी बड़ी चोरी करते हैं। हजारों करोड़ रूपयों के घोटालों से अखबार भरा पड़ा है। यह सब वही लोग हैं जिनके लिए मूसा या कृष्ण व्यावहारिक नहीं हैं। ब्रह्मचर्य की तरह आस्तेय संयम की एक और कड़ी है।

नवम आदेश : "तुम किसी के विरुद्ध झूठी गवाही नहीं दोगे।"

संयम की एक अन्य कड़ी सत्यवादिता है। यह आदेश हमें उसी दिशा में प्रेरित करता है।

दशम आदेश : "तू किसी के घर का लालच नहीं करोगे या न ही किसी की स्त्री का लालच करोगे, और न ही किसी के दास–दासी, या जानवर, या अन्य किसी वस्तु का लालच करोगे।"

ईशोपनिषद् के पहले मन्त्र में कहा गया है – 'मा गृधः कस्य स्विद् धनम्। डिमॉक्रिटस से लेकर शॉपनहावर तक सभी ने समझाया है कि मनुष्य के लिए आत्मबोध, आत्मसाक्षात्कार, स्वयं के मूलस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना एकमात्र अभीष्ट उद्देश्य है। लेकिन जब हमारा सारा समय पड़ोसी की औरत, उसका गाड़ी–बंगला, उसके नौकर–चाकर, उसकी पद–प्रतिष्ठा, यही सब देखने में बीतेगा, तो यह आत्मसाक्षात्कार कब करेंगे? मरने के बाद?

मूसा के दस धर्मादेशों के माध्यम से ईश्वर ने मानवता को नैतिक जीवन जीने का एक अत्यन्त सुलभ पाठ दिया है। इसे व्यवहार में लाना ही साधना है। यह इतना सरल है कि कम से कम पढ़ा–लिखा व्यक्ति भी इसे आसानी से समझ सकता है। यह दस आदेश इतने संक्षिप्त हैं कि उन्हें आसानी से याद रखा जा सकता है। इन्हें समझने के लिए किसी आचार्य की टीका की आवश्यकता नहीं है।

अभ्यास प्रश्न – 2

सत्य/असत्य कथन को चुनिये।

1. प्राचीन ग्रीस से लेकर तितिक्षावाद तक पाश्चात्य चिन्तन की परम्परा ज्ञानमार्गी है।
2. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन........0 वचन ईशावास्योपनिषद का है।
3. ईश्वर के सत्यं–शिवं–सुन्दरम् स्वरूप का प्राकट्य ही सृष्टि का प्रयोजन है।
4. ऑगस्टीन और अक्वाइनस के मध्य पॉच शताब्दियों का अन्तराल है।
5. मूसा का प्रथम धर्मोपदेश है – तुम मुझे छोड़कर किसी अन्य को ईश्वर नहीं मानोगे।

8.6 सारांश

इस इकाई में आपने जाना कि –

- पाश्चात्य परम्परा का अध्ययन क्यों आवश्यक है।

- पाश्चात्य दर्शन के प्रमुख शब्दों की हिन्दी में किस तरह रूपान्तरण किया जा सकता है।
- प्राचीन ग्रीक परम्परा के पाँच प्रमुख दार्शनिक कौन हैं।
- मध्यकालीन पाश्चात्य दर्शन के दो प्रमुख प्रणेताओं ने किस तरह पश्चिमी चिन्तन में एक नया अध्याय प्रारम्भ किया।
- आधुनिक कालखण्ड में किस तरह मानवीय मूल्यों को अलग अलग तरीके से परिभाषित करने का प्रयास है।
- मूसा के दस धर्मादेश क्या हैं।

8.7 स्व–अध्ययन हेतु प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न – 1 के उत्तर

1. क
2. ख
3. घ
4. ख
5. क

अभ्यास प्रश्न – 2 के उत्तर

1. सत्य
2. असत्य
3. सत्य
4. असत्य
5. सत्य

8.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

Thilly, Frank- *A History of Philosophy*- 3rd edition (Revised by Ledger Wood), 1956- Allahabad: Central Book Depot, 1965- Reprint.

https://hi-wikipedia-org/wiki/दसधर्मादेश

https://hi-wikipedia-org/wiki/मूसा

इकाई – 9 व्यक्तित्व का आदर्श रूपान्तरण

इकाई संरचना

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 व्यक्ति समाज और शिक्षा
9.4 व्यक्तित्व का स्वरूप
9.5 रूपान्तरण की संकल्पना
    9.5.1 व्यक्तित्व संरचना का वर्तमान
    9.5.2 व्यक्तित्व के आदर्श रूपान्तरण का मार्ग
    9.5.2.1 मार्ग एक : ज्ञान मार्ग
    9.5.2.2 मार्ग दो : भक्ति या प्रेम का भावमार्ग
9.6 उपसंहार यक्ष प्रश्न – 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः'
9.7 सारांश
9.8 स्व बोध हेतु अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

9.1 प्रस्तावना

इस खण्ड की पूर्ववर्ती दो इकाइयों में आपने मानव समाज में व्याप्त मूल्य ह्रास के कारण एवं निदान विषय पर भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण के बारे में पढ़ा। आपने यह भी देखा कि सत्य किस तरह शाश्वत और एक है, परन्तु भारत और पश्चिम ने उसे अपने अपने ढंग से व्याख्यायित किया है। हम जिस तत्त्व को धर्म का कहते हैं, पश्चिम उसी तत्त्व को सदाचार, शुभ तथा नैतिकता (वर्चू, गुड तथा मोरल ऑर्डर) का नाम देता है।

आपने यह भी पढ़ा कि धर्मनिष्ठ व्यक्ति के दस प्रमुख लक्षण क्या हैं, तथा वे तेरह दोष कौन से हैं जिनसे छुटकारा पाना आवश्यक है। पाश्चात्य चिन्तन की परम्परा से हमनें यह सीखा कि मनुष्य के लिए अभीष्ट क्या है, और अभीष्टप्राप्ति के मार्ग में कौन कौन सी प्रमुख बाधाएं हैं।

प्रस्तुत इकाई इस खण्ड की अन्तिम इकाई है। यह इस खण्ड के व्यावहारिक पक्ष पर प्रकाश डालती है; इसके साथ ही इस खण्ड को सम्पन्न कर समापन की ओर ले जाती है। यहाँ हम इन प्रश्नों का उत्तर तलाशने का प्रयास करेंगे कि व्यक्तित्व क्या है, और उसके रूपान्तरण की आवश्यकता क्यों है। इस पाठ्यक्रम की आवश्यकता का उत्तर भी इसी में निहित है।

9.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जान जायेंगे कि

- व्यक्ति और व्यक्तित्व किस तरह परिभाषित किये जाते हैं।
- रूपान्तरण किसे कहते है।
- व्यक्ति और समाज का वर्तमान स्वरूप क्या है।
- रूपान्तरण का मार्ग क्या है।
- रूपान्तरण विषयक दुर्योधन का महत्वपूर्ण प्रश्न क्या है।

9.3 व्यक्ति, समाज और शिक्षा

पचास–साठ वर्ष पूर्व स्कूलों में तीन वर्ष तक 'हमारे पूर्वज' नाम का एक पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता था। देश नया नया स्वतन्त्र हुआ था। पाठ्यक्रम का उद्देश्य था कि आने वाली पीढ़ी के चरित्र निर्माण की बुनियाद डाली जाय। पचास वर्ष के बाद दृश्य है कि पिछले कई वर्षों से हम प्रयासरत हैं कि उच्च और तकनीकी शिक्षा के पाठ्यक्रमों में 'मूल्यपरक शिक्षा' या value education का अनिवार्य रूप से समावेश हो सके।

हमारी चिन्ता स्पष्ट है कि हम डॉक्टर और इन्जीनियर तो थोक के भाव से पैदा किए जा रहे हैं, मगर वर्तमान पीढ़ी में मूल्यों का अभाव बढ़ता ही जा रहा है।

आये दिन अखबार में छपता है कि बाबू–अफसर–नेताओं के यहाँ छापे पड़ रहें हैं और अकूत धन–सम्पदा पकड़ी जा रही है। समाज की ऐसी स्थिति वास्तव में चिन्ताजनक है। प्रश्न उठता है कि व्यक्ति भ्रष्ट हो गया है, या व्यवस्था और समाज, या तीनों। गौर से देखने पर पता चलता है कि तीनों अभिन्न रूप से एक ही हैं, अलग अलग नहीं। व्यक्ति से ही समाज बनता है, तथा व्यक्ति और समाज ही मिलकर व्यवस्था का निर्माण करते हैं। देखें तो तीनों के मूल में व्यक्ति ही है। इसलिए सुधार लाना है तो सुधार की प्रक्रिया व्यक्ति से ही प्रारम्भ करनी होगी। वैसे भी हम दूसरों को कभी भी नहीं सुधार सकते, हाँ स्वयं में परिवर्तन लाने का सार्थक प्रयास अवश्य कर सकते हैं।

पिछली इकाई में आपने पढ़ा कि किस तरह जर्मन दार्शनिक फिश्ट ने समझाया कि बिना सही शिक्षा के व्यक्ति में सही संस्कार नहीं पड़ सकते, और बिना सही संस्कारों के वह अपनी शुद्ध अन्तश्चेतना की आवाज नहीं सुन सकता।पाश्चात्य विचारकों ने यह भी बार बार कहा है कि व्यक्ति के पापमार्गी होने के पीछे एक ही कारण है – विवेक और ज्ञान की कमी। सृष्टि का कोई भी घटक या सृष्टि अपनी सम्पूर्णता में मूलतः पापाचारी नहीं है। मूल्यों का ह्रास व्यक्ति और समाज की रुग्णावस्था है। और रोगी को औषधि चाहिए। आपने पढ़ा कि ज्ञान और शिक्षा ही वह औषधि है। इसीलिए भारत सरकार निरन्तर 'मूल्यपरक शिक्षा' पर जोर दे रही है।

9.4 व्यक्तित्व का स्वरूप

आपने पढ़ा कि व्यक्ति वही करता है जो उसे सही लगता है, और 'सही' का निर्णय वह अपनी समझ के अनुसार करता है। उसकी यह समझ, जिसे हम विवेक भी कह सकते हैं, उसके ज्ञान, उसके बोध के अनुरूप होती है। यह ज्ञान और बोध ही किसी व्यक्ति को औरों से भिन्न बनाता है। यही उसकी पहचान है। यही उसके व्यक्तित्व का आधार है। कहा गया है कि ज्ञान–ज्ञानी–ज्ञेय अभिन्न रूप से एक हैं। मेरा उतना ही विस्तार है जितना मेरा ज्ञान है। छोटा ज्ञान–छोटा आदमीय बड़ा ज्ञान–बड़ा आदमी; महत् का ज्ञान हो जाय, तो फिर आदमी नहीं महात्मा। ब्रह्म का ज्ञान हो तो मैं ब्रह्म हूँ, शिव का ज्ञान हो तो मैं शिव हूँ। फिश्ट इसीलिए कहते हैं कि निरन्तर ज्ञान का विस्तार ही मेरा कर्तव्य है।

उपनिषद् कहता है, 'मनः प्राण शरीर नेता'। मनुष्य मन, प्राण और शरीर की तीन भूमियों पर एक साथ वास करता है। मन शब्द अंग्रेजी के 'माइन्ड' का समानार्थी है। मन से मनुष्य बना है, और माइन्ड से मैन। मन नेता है, पथ प्रदर्शक है। प्राण और शरीर

उसके अनुयायी हैं। इसलिए प्राण और शरीर के दोष मूलतः मन के दोष हैं। इच्छा और संकल्प प्राणिक हैं। उनकी कालिमा, उनके दोष मन के अन्धकार के कारण हैं। इसीलिए पाश्चात्य दृष्टि बार बार कहती है कि मनुष्य के अशुभ कर्म, उसके पापाचार उसकी त्रुटिपूर्ण संकल्पशक्ति (defective Will) के कारण हैं।

व्यक्तित्व के विकास को समझने के लिए जीवन के विकास–क्रम को देखना होगा। सबसे पहले आधार रूप में शरीर है। जन्म के समय मनुष्य में प्राणिक शक्ति न्यूनतम है। बाल्यावस्था में उसे केवल भूख–प्यास का बोध रहता है। इससे मिलती जुलती या इससे थोड़ा सा आगे की अवस्था अधिकांश जानवरों की है। उन्हें भूख–प्यास, मैथुन, भय और आत्मरक्षा का बोध है। मनुष्य में मन के विस्तार के साथ उसके प्राणिक जगत का विस्तार होता है। बच्चा बड़ा होता है तो उसमें वस्त्र और भोजन आदि के चयन की क्षमता विकसित होती है। उसे लाल कपड़ा पसन्द आता है, जलेबी अच्छी लगती है। थोड़ा और बड़ा होने पर धन की, पद–प्रतिष्ठा की, अच्छे जीवनसाथी की इच्छा होती है। परन्तु अब भी यह सारा का सारा विकास प्राणिक है। प्राण का संसार बड़ा हो रहा है। वह अब एक विशिष्ट जानवर हो गया है। परन्तु उसे अभी मनुष्य बनना शेष है।

'साहित्यसंगीतकला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः'। साहित्य, संगीत, कला की यात्रा मन के विकास की यात्रा है, मनुष्य बनने की यात्रा है। साहित्य पुस्तकों का, विचारों का, ज्ञान का संसार है। इसमें प्रवेश के साथ ही बुद्धि और विवेक का विकास प्रारम्भ होता है; सत् और असत्, शुभ और अशुभ का भेद करने की दृष्टि खुलती है। प्रारम्भ में व्यक्ति मोहमयी माया की अविद्या के संसार का ज्ञान प्राप्त करता है, ताकि जीवनयापन सम्भव हो सके – यथा, वाणिज्य, अर्थ, राजनीति, समाजादि शास्त्र। यह साइंस, टेक्नॉलजी, राजा और पूँजीपतियों के भौतिक जगत पर आधिपत्य का संसार है। कठोपनिषद् का मन्त्र है – 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'। वित्त से मनुष्य का तर्पण नहीं हो सकता; उसके लिए गंगाजल चाहिए, गौदान चाहिए। वैदिक साहित्य में गौ का अर्थ ज्ञान की रश्मि है। इसलिए इसके आगे की यात्रा मनुष्य के श्रेष्ठत्व की, अविद्या से सर्वथा भिन्न विद्या की यात्रा है – मनीषी, विचारक, कवि और ऋषिमार्गी यात्रा। प्लेटो मानते हैं कि भौतिक जगत से परे शाश्वत, सुन्दर, दिव्य ज्ञान के ध्यान की प्राप्ति मनुष्य के लिए उसकी श्रेष्ठतम उपलब्धि है। इसके आगे कुछ शेष नहीं है। बुद्ध और ईसा मानवता का शिखर हैं, न कि सिकन्दर।

9.5 रूपान्तरण की संकल्पना

कैटरपिलर से तितली बन जाना रूपान्तरण है। बिना पूँछ और सींग वाले पशु से मनुष्य बन जाना रूपान्तरण है। रत्नाकर डाकू का कवि वाल्मीकि बन जाना

रूपान्तरण है। परन्तु यह रूपान्तरण है क्या, और घटित कैसे होता है? अगले खण्ड में आप श्री अरविन्द के बारे में पढ़ेंगे। श्री अरविन्द की तपस्या सम्पूर्ण सृष्टि के रुपान्तरण के लिए थी, तथा मानव जगत के रूपान्तरण के विषय में उन्होंने अत्यन्त विस्तार से लिखा है।

परन्तु इस इकाई में यहाँ हमारा प्रयोजन उस व्यावहारिक जगत के बदलाव से है जहाँ दिन–ब–दिन खून–खराबा, हत्या–बलात्कार, चोरी–डकैती, छल–प्रपञ्च और भ्रष्टाचार की घटनाएं बढ़ती ही जा रहीं हैं। हमारा प्रयोजन उस विश्व से है जो दो बार विश्वयुद्ध लड़ चुका है, और आज उसके सामरिक आयोजनों से लगता है कि जैसे तीसरे विश्वयुद्ध की तैयारी चल रही हो। इस रोजमर्रा की जिन्दगी में क्या किसी परिवर्तन की सम्भावना है?

9.5.1 व्यक्तित्व संरचना का वर्तमान

रुपान्तरण बिन्दु क से बिन्दु ख तक, वर्तमान से भविष्य तक, वास्तविक से आदर्श तक की यात्रा है। परिवर्तन जो है उसी का संशोधित संस्करण है, सॉफ्टवेयर अपडेट है। सरकारी नियमों में बदलाव, नये प्रधानमन्त्री या मुख्यमन्त्री द्वारा व्यवस्था में बदलाव, तथाकथित श्वेत क्रान्ति, हरित क्रान्ति, या लाल–पीली क्रान्ति – यह सभी परिवर्तन की श्रेणी में आते हैं। रूपान्तरण में किसी व्यवस्था का जो मूल है, जड़ है, उसे सम्पूर्ण रूप में विनष्ट कर दिया जाता है, और उसकी जगह नये तत्व का प्रत्यारोपण होता है। किसी इमारत को उसकी बुनियाद से उखाड़ कर उसकी जगह नयी इमारत का निर्माण रूपान्तरण है।

यह बिन्दु क क्या है जहाँ से हमें शुरुआत करनी है? यह कैसा वर्तमान है जिससे हम सर्वथा मुक्त होना चाहते हैं? यह कौन सी इमारत है जिसे नेस्तनाबूद करना आवश्यक हो गया है? शॉपनहावर ने किसी अन्य प्रसंग में संसार की दुष्टता (wickedness) पर चिन्तन–मनन करने का सुझाव दिया है। हमने देखा कि मूल्य ह्रास के कारण व्यक्ति और समाज दोनों ही रुग्ण हो चुके हैं। हमने यह भी समझ लिया है कि चूँकि व्यक्ति सामाजिक संरचना की मूल इकाई है, इसलिए प्रमुख रूप से हमें व्यक्ति के ही मूल्य ह्रास पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

जब हम अपने जैसे सामान्य व्यक्ति की वर्तमान संरचना को देखते हैं, तो पाते हैं कि वह अनेक प्रकार से तमाम समस्याओं और अवगुणों से घिरा है। हम शारीरिक, प्राणिक और मानसिक हर तरफ से दुर्बल हैं। अनगिनत बीमारियाँ, दवाइयाँ, अस्पताल तथा इस बीमार शरीर की असीमित चिन्ता, और इन सब के मूल में मृत्यु के भय ने हमारी सुख–शान्ति, धन, समय, सब कुछ छीन लिया है। क्या हमेशा से ऐसा ही रहा है, या मूल्यों से विपन्न हमारे कालखण्ड की यह विशेष देन है, जिसमें लालची अस्पतालों

और दवा–उद्योग का विशेष योगदान है? अन्य जीव–जन्तु भी अवश्य बीमार पड़ते हैं, मगर इतना तो नहीं जितना आज का मनुष्य। प्राकृतिक आपदाओं से भी शरीर को खतरा रहता है, मगर उतना नहीं जितना जल–थल–वायु की मार्ग दुर्घटनाओं या आये दिन के बम विस्फोट या गोली बारूद से। प्रकृति से अधिक मानव सभ्यता ही खतरनाक हो गयी है। प्राणिक दुर्बलता है कि हम चाहते कुछ हैं, पाते कुछ और ही हैं। जो पाना चाहते हैं, उसे प्राप्त करने की क्षमता नहीं है। मानसिक दुर्बलता इतनी कि यही नहीं मालूम कि बी.ए. के बाद कौन सी पढ़ाई की जाय। कोई भी समस्या आती है तो या तो पिताजी से पूछिए या भाईसाहब से, अन्यथा प्रोफेशनल परामर्शदाताओं, मनोवैज्ञानिकों, बाबा, ओझा या ज्योतिषियों के चक्कर लगाइए। शायद कहीं से सुराग मिल जाय कि बी. ए. के बाद क्या करना चाहिए।

यह तो शरीर, प्राण और मन की नैसर्गिक दुर्बलता रही; ऊपर से अनगिनत अवगुण, दुर्गुण और चारित्रिक दोष – चोरी करना, झूठ बोलना, चुगली और चमचागीरी करना,ईर्ष्या, कपट, लालच, क्रोध और न जाने क्या क्या। पूर्ववर्ती इकाई में तो पितामह भीष्म ने तेरह प्रमुख दोषों की गणना की थी, मगर यहाँ तो कौरवों की तरह यह सैकड़ा की संख्या में दिखते हैं। महात्मा मूसा ने भी इनमें से कइयों से बचने के लिए आगाह किया था, मगर बच कौन पाता है? मूसा के चेले अगर बच पाते तो आज उनके समाज की वह हालत नहीं होती जो है।

शायद युधिष्ठिर और कृष्ण से ज्यादा बुद्धिमान दुर्योधन था। ठीक ही तो कहा था उसने – 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः। जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।' 'ऐसा नहीं कि धर्म तथा अधर्म क्या है यह मैं नही जानता। परन्तु ऐसा होने पर भी धर्म के मार्ग पर चलना मेरी प्रवृत्ति नहीं बन पायी और न ही अधर्म के मार्ग से मैं निवृत्त हो सका।' ऐसी परिस्थितियों में बजाय भीष्म और युधिष्ठिर के मैं अपने को दुर्योधन के अधिक निकट पाता हूँ। क्या मेरे उद्धार का कोई मार्ग नहीं है?

9.5.2 व्यक्तित्व के आदर्श रूपान्तरण का मार्ग

सातवीं इकाई में हमने पढ़ा कि धर्मकाया दस गुणों से मिलकर बनी है। ये दस गुण हैं – यश, सत्य, दम, शौच, सरलता, लज्जा, अचञ्चलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य। इन्हीं गुणों में धर्मप्राप्ति का मार्ग भी निहित है। पाश्चात्य दर्शन की विवेचना है कि ज्ञान ही मनुष्य के लिए परमोच्च शुभ कर्म है; इसी में उसकी मुक्ति है, इसी में परम आनन्द है। मनुष्य अपने मूल रूप में शिव है, कल्याणकारी है; क्योंकि परमसत्ता मूल रूप में कल्याणकारी है, और व्यक्ति उसी परमसत्ता का अंश है। घोर तामसिक अज्ञान के कारण ही वह अपने को दुर्योधन मान बैठा है। अज्ञान का अँधेरा दूर होते ही दुर्योधन की सत्ता समाप्त हो जाती है, और धर्मपुत्र के रूप में व्यक्ति को अपने सच्चे स्वरूप का बोध प्रकट

होता है। अरस्तू सहित अधिकांश पाश्चात्य विचारकों का मत है कि आत्मबोध ही व्यक्ति की श्रेष्ठतम परिणति है। अक्वाइनस कहते हैं कि परमसत्ता का बोध होते ही आप परमसत्ता के स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं – "They are most like God who know God as God knows himself"।

रूपान्तर को व्याख्यायित करते समय आपने देखा कि किसी सत्ता या व्यवस्था के केन्द्र में जो आधार है हमें उसे बदलना होगा। हमारे वर्तमान व्यक्तित्व के केन्द्र में 'मैं' है, जिसे अहंकार, ईगो या सेल्फ (ego, self) के नाम से भी जाना जाता है। इसकी उत्पत्ति के विषय में हमें बाइबल में एक बड़ी रोचक कथा मिलती है। ऐडम और ईव, जिन्हें आदम और हव्वा भी कहते हैं, स्वर्ग में ईश्वर के बनाये हुए बागीचे ईडन में पूरी स्वतन्त्रता से सुख, शान्ति और आनन्द के साथ रह रहे थे। बस उस बागीचे में एक फल था जिसे खाने के लिए उन्हें मना किया गया था। यहाँ पर कथा में खलनायक शैतान का प्रवेश होता है। शैतान ने बार बार ऐडम को बहला फुसला कर समझाने की कोशिश की कि इस फल को एक बार अवश्य चखना चाहिए। मगर ऐडम दृढ़ बना रहा कि जब परमपिता प्रभु ने ऐसा करने से मना किया है, तो ऐसा नहीं हो सकता – वह फल नहीं चखेगा। शैतान की दाल जब ऐडम के पास नहीं गली, तो वह ईव के पास पहुँचा। ईव को फुसलाने में अधिक समय नहीं लगा। अब ईव ऐडम के सिर पर सवार हो गयीं कि 'कुछ भी हो, यह फल तोड़ कर लाओ, हमें इसे चखना ही है'। ऐडम ने लाख समझाने की कोशिश की लेकिन ईव टस से मस नहीं हुयीं। बेचारे ऐडम के पास चारा भी क्या था। वह फल तोड़ कर लाया और दोनों ने उसे मिलकर चखा। वह ज्ञान का फल (fruit of knowledge) था। फल चखने के बाद उन दोनों को पहला बोध हुआ कि वे पुरुष और स्त्री हैं और नग्नावस्था में हैं। तभी परमप्रभु टहलते हुए आए और देखा कि ऐडम का कहीं अतापता नहीं है। आवाज देने पर ऐडम ने दूर से जवाब दिया – 'प्रभु, मैं नंगा हूँ, इसलिए झाड़ी के पीछे छुपा हूँ'। इस अवज्ञा के दण्ड स्वरूप ईश्वर ने दोनों को स्वर्ग से निष्कासित कर धरती पर भेज दिया। इसके बाद दोनों ने बच्चे पैदा किए, और उनकी सन्ततियों को आज तक उस पहले पाप (Original Sin) का दण्ड भुगतना पड़ता है।

इस भेद बुद्धि – मैं पुरुष हूँ; मैं स्त्री हूँ – में 'मैं' की उत्पत्ति है। जितनी बार हम स्वयं को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं – मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं बुद्धिमान हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं हिन्दू हूँ, मैं इसाई हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं नेपाली हूँ, आदि आदि – उतनी बार हम अपने चारों ओर अपने कारागार की दीवाल पर एक नई ईंट रख देते हैं। फिर एक समय आता है जब इस कारागार में हमारा दम घुटने लगता है, और हम मुक्ति के लिए चिल्लाना शुरू करते हैं। भारतीय परम्परा में इस भेद–बुद्धि को अविद्या कहा गया है, और अहंकार को धृतराष्ट्र की संज्ञा दी गयी है। धृतराष्ट्र ने राष्ट्र को धृत कर, छीन कर उस पर अनीतिपूर्वक अवैध कब्जा कर रखा है। गीता का प्रारम्भ

होता है – 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे...'। जो धर्म का क्षेत्र था, वह कुरु, यानि इच्छाओं का क्षेत्र हो गया है। जिस धर्मक्षेत्र अन्तश्चेतना पर आत्मा का शासन होना चाहिए था, वहाँ दृष्टिहीन अज्ञानी धृतराष्ट्र बैठ गया है।

आपने देखा कि स्वयं पितामह भीष्म ने कहा कि सभी तेरह के तेरह चारित्रिक दोष धृतराष्ट्र के पुत्रों में उपस्थित हैं। रूपान्तरण सिद्ध करने के लिए धृतराष्ट्र को गद्दी से हटा कर वहाँ आत्मा का, धर्म का शासन पुनर्स्थापित करना होगा। मार्ग बहुत सीधा है; कहीं से भी घुमावदार या उलझा हुआ नहीं है। परन्तु कठिन अवश्य है – 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गंपथस्तत्कवयो वदन्ति।' इतना मुश्किल रास्ता, कि जैसे तलवार पर चलना हो – सावधानी हटी, और दुर्घटना घटी। एक प्राचीन ग्रन्थ में गुरू शिष्य को आगाह करता है कि इस मार्ग में तीन प्रमुख संकट हैं – पक्षाघात, विक्षिप्तता एवं मृत्यु। आपने क्या समझा, कि मुकदमा दायर करने से या हुर्र कहने से धृतराष्ट्र गद्दी छोड़ कर भाग जायेगा ?

कुछ पहले हमने शारीरिक, प्राणिक और मानसिक दुर्बलता की बात की थी। इसके पीछे भी यही कारण है। सारी शक्ति आत्मा की है। महाशक्ति प्रभु की संगिनी हैं। आत्मबल ही एकमात्र बल है। परन्तु हम तो धृतराष्ट्र पुत्र हो चुके हैं, शक्ति की स्रोत आत्मा से हमारा विच्छेद हो चुका है। हमारी दुर्बलता का यही मूल कारण है।

लेकिन यदि हमने रूपान्तरण की ठान ली है, तो यह भी जान लें कि किस किस तरह से धृतराष्ट्र को घेरा जा सकता है। भारतीय और पाश्चात्य परम्परा का अध्ययन करने से पता चलता है कि मुख्य रूप से दो या तीन रास्ते हैं। आइए, इन्हें कुछ विस्तार से समझते हैं।

अभ्यास प्रश्न – 1

1. निम्नलिखित में 'मन' शब्द किसका समानार्थी है?
   क. माइण्ड ख. हार्ट ग. चेस्ट घ. ह्रदय
2. 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' किस उपनिषद का मन्त्र है?
   क. ईशावास्योपनिषद ख. केनोपनिषद ग.कठोपनिषद घ. मुण्डकोपनिषद
3. धर्मकाया कितने गुणो से मिलकर बनती है?
   क. 5 ख. 10 ग. 15 घ. 20
4. 'एडम और ईव' की कथा किस धर्मग्रन्थ से सम्बन्धित है?
   क. रामायण ख. बाइबिल ग. कुरान घ. गीता
5. निम्नलिखित में वैदिक साहित्योक्त 'गौ' शब्द का क्या अर्थ है?
   क. पशु ख. माता ग. ज्ञान की रश्मि घ. कोई नही

9.5.2.1 मार्ग एक : ज्ञानमार्ग

भारतीय और पाश्चात्य दर्शन दोनों यहाँ एकमत हैं कि अज्ञान या दिग्भ्रमित संकल्पशक्ति से ही सभी चारित्रिक दोषों की उत्पत्ति होती है, और ज्ञान ही एकमात्र विकल्प है जिनसे उनका नाश हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि सातवीं इकाई में भीष्म द्वारा बताए गये इन दोषों से निदान के उपायों को देखें तो हम पाते हैं कि तेरह में से दस दोषों का निदान ज्ञान में है। काम–वासना के निदान के लिए कहा गया – 'यदा प्राज्ञो विरमते तदा सद्यः प्रणश्यति' – अर्थात प्रज्ञावान या बुद्धिमान (वैसे प्रज्ञा और बुद्धि में बहुत भेद है, परन्तु उतने सूक्ष्म में जाने की आवश्यकता नहीं है) के विरक्त होने से इसका निदान है। प्रज्ञा साधनी पड़ेगी; ज्ञान चाहिए; अज्ञानी के लिए काम–वासना से छुटकारा नहीं है। डाह, द्रोह, शत्रुता का निदान है – 'तत्त्वज्ञानाच्च धीमताम्'। तत्त्वज्ञान सृष्टि का मूलविषयक ज्ञान है, छोटा मोटा इतिहास भूगोल का ज्ञान नहीं। इसी तरह मोह एवं ईर्ष्या से मुक्ति प्रज्ञा में है; विधित्सा की तत्त्वज्ञान में; शोक, मद, लोभ, निन्दा एवं कृपणता का निदान उन्हें भलीभाँति समझ लेने में है।

यही पाश्चात्य परम्परा का मार्ग है। सुकरात कहते हैं कि हम अशुभ इसलिए चुनते हैं क्योंकि हमें शुभ का बोध नहीं है। प्लेटो का मानना है कि विवेकहीनता ही चोरी, विश्वासघात और देशद्रोह के मूल में है। तितिक्षावादी मान्यता है कि इन्द्रियजन्य सुखों की लालसा, इच्छाओं, शोक और भय का कारण भ्रमित दृष्टि है। प्राचीन ग्रीक विचारकों के अनुसार विवेक, ज्ञान और सत्य का बोध ही हमें अधोगति से बचा सकता है। आधुनिक काल में जर्मन दार्शनिक शॉपनहावर लगभग वही बात दोहराते हैं जो ऊपर भीष्म की अन्तिम सीख है। वे कहते हैं कि संसार का छल–कपट, दुष्टता, इच्छाओं की अर्थहीनता, वैयक्तिक अस्तित्व, 'मैं', का भ्रम आदि का चिन्तन–मनन स्वार्थकेन्द्रित विद्रूप अधोगामी संकल्पों से छुटकारा दिला सकता है।

ज्ञान का मार्ग सत्य की खोज है। सत्य तक पहुँचने के लिए झूठ को, असत् को नकारना होगा। प्लेटो कहते हैं, जो शाश्वत है, वही सत्य है; इन्द्रियों के माध्यम से दृष्टिगोचर भौतिक जगत क्षणभंगुर है, नश्वर है, असत् है। ग्रीक आचार्यों का मत है कि शाश्वत के ध्यान में ही अहर्निश निमग्न होने में मुक्ति है, आनन्द है; यही मानव जीवन का श्रेष्ठतम कर्म है। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।

हम यह नहीं कहते कि आप प्लेटो, भीष्म, शॉपनहावर या किसी अन्य की बात पर आँख मूँद कर विश्वास कर लें। लेकिन इस मार्ग पर एक कदम भी बढ़ाने के पहले विवेक की आँख थोड़ी थोड़ी तो खोलनी ही पड़ेगी। सत्य तो बहुत बाद में, सुकरात–विवेकानन्द–गाँधी की पंक्ति में खड़े होने पर दिखेगा; मगर उसके पहले यदि फिल्मी संसार का झूठ, अखबार का झूठ, नेताओं का झूठ, उद्योगपतियों और टीवी के

बाबाओं का झूठ दिखना शुरू हो जाय तो समझिए यात्रा प्रारम्भ हो गयी है। और अगर नेता, अभिनेता, बाबा, सब सच लगते हैं, तो अगले जन्म का इन्तजार कीजिए, क्योंकि इस जन्म में कुछ नहीं होने वाला।

9.5.2.2 मार्ग दो : भक्ति या प्रेम का भावमार्ग

ऊपर हमने देखा कि भीष्म के बताए गये तेरह दोषों में से दस का निदान ज्ञान में है। शेष तीन में से दो का निदान भाव में और एक का कर्म में है। क्रोध क्षमा से शान्त होता है। इसी तरह असूया या परदोषदर्शन तथा बुरायी करना करुणा से निवृत्त होती है। क्षमा और करुणा हृदय में वास करते हैं, बुद्धि में नहीं। हृदय में एक और सत्ता का वास है – 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता १८.६१)। इसी सत्ता में क्षमा और करुणा का स्रोत है। क्षमा और करुणा मानवीय मूल्य नहीं, मनुष्य में देवत्व की उपस्थिति है। इसके लिए ईश्वर का आह्वान करना पड़ता, और प्रेम ही यह आह्वान कर सकता है। इस विषय पर थोड़ा आगे हम फिर लौटेंगे। मात्सर्य या विद्वेष का भाव साधुओं की सेवा करने से दूर होता है। वैसे तो अनपढ़ ग्रामीण भारतवासी भी भलीभाँति समझता है कि साधु कौन हैं, और सेवा क्या है, परन्तु सेवा की सामर्थ्य हर व्यक्ति में नहीं होती। भीष्म इंगित कर रहे हैं कि दस ज्ञान पर दो भाव भारी हैं, और इन बारहों से भारी सेवा का कर्म है। अकेले सेवा से मुक्ति सहित सब कुछ प्राप्त हो जाता है। हनुमानजी और सेवा पर्यायवाची हैं। इससे अधिक इसकी व्याख्या सम्भव नहीं है। क्षमा, करुणा, सेवा, तीनों के केन्द्र में प्रेम है। सिक्ख परम्परा की साधना के केन्द्र में भी सेवा ही है।

पाश्चात्य दर्शन में प्राचीन ग्रीस की ज्ञानमार्गी धारा के पश्चात सेन्ट ऑगस्टीन के प्रादुर्भाव के साथ एक नयी परम्परा का प्रारम्भ होता है। ऑगस्टीन ने ग्रीक दर्शन के आधार को ही नकारते हुए कहा कि जीवन का परम लक्ष्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं, ईश्वर से मिलन है। प्रेम ही इस मिलन का एकमात्र उपाय है; प्रेम ही श्रद्धा का मूल है; प्रेम में ही सभी आशाओं की शरणागति है। परन्तु यह प्रेम केवल ईश्वर की कृपा से प्राप्त होता है।

ऑगस्टीन की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए, अक्वाइनस ने जोड़ा कि हमारे जो भी सद्गुण और सदाचार (virtues) हैं, वे सब एकमात्र ईश्वरीय कृपा से ही प्राप्त होते हैं। यही बात भारतीय भक्ति परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास ने कही है – 'अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।।' अक्वाइनस कहते हैं कि साधना, तपस्या और पुण्यकर्मों के सहारे ईश्वर मिलन नहीं हो सकता; इस मिलन का एकलौता आधार प्रभु की कृपा ही है। जे. कृष्णमूर्ति ने एक बार सानन (स्विटजरलैन्ड) में अपनी शिष्य–मण्डली को तीन माह तक लगातार पाठ पढ़ाने के बाद अन्त में कहा – 'अब आपने अपने कमरे को बुहार कर साफ सुथरा कर लिया है; आपने सभी खिड़कियाँ और

दरवाजे खोल दिये हैं; और आप चुपचाप अपने अतिथि (परमप्रभु) के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे आ भी सकते हैं; और नहीं भी आ सकते हैं।' अतिथि का आगमन उनकी कृपा है। इस कृपा का न तो अनुमान लगाया जा सकता है; और न ही अतिथि से किसी अपेक्षा का भाव हो सकता है। बस इतना ही हमने उनके सहस्रों भक्तों से सुना है कि वे अत्यन्त कृपालु हैं।

9.6 उपसंहार : यक्ष प्रश्न – 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः'

इस इकाई, खण्ड या पाठ्यक्रम के अन्तिम पड़ाव पर हमें उसी यक्ष–प्रश्न का सामना करना पड़ता है, जो कभी धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन ने किया था। पाश्चात्य परम्परा के अनुसार, आदम और हव्वा की सन्तति होने के कारण हम उनके पहले मूलस्वरूप पापकर्म (The Original Sin) और उसके दण्ड के उत्तराधिकारी हैं। इस कथा को यदि भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखा जाय, तो हममें से अधिकांश धृतराष्ट्र और दुर्योधन की ही मानस–सन्तति हैं। इसीलिए दुर्योधन का प्रश्न हमारे लिए आज भी प्रासंगिक है, और इसीलिए यह प्रश्न अनेकों विद्वत–सभाओं में बार–बार उपस्थित होता है।

बचपन से हमें पढ़ाया गया कि गाँधी जी कहते थे 'सदा सत्य बोलो'; या पश्चिम में बच्चे बच्चे को मूसा का धर्मादेश रटा पड़ा है। लेकिन सुबह से शाम तक हम देखते हैं कि छोटे से बड़ा, हर आदमी झूठ ही झूठ बोलने में लगा है। तो फिर 'सदा सत्य बोलो' का पाठ पढ़ाने का पहले क्या फायदा हुआ, और एक बार फिर उसी पाठ को यहाँ इस पुस्तक में पढ़ाने से अब क्या फायदा होने वाला है? यही दुर्योधन का यक्ष–प्रश्न है।

दुर्योधन, रुको! भीष्म, द्रोणादि गुरुजनों की शिक्षा का ही परिणाम है कि तुम्हें आज भी यह प्रश्न याद है; तुम्हें आज भी यह बोध सालता है कि तुम धर्म का वह मार्ग जो सामने था उस पर नहीं चल सके। तुम कृष्ण के पास माँगने भी गये थे, परन्तु वह माँग बैठे जो अनुपयोगी था। दोष शिक्षा का नहीं है, दोष तुम्हारी भूमि का है कि उसमें बबूल के सिवा कुछ और उगता ही नहीं है। पश्चिम भी यही तो कहता है कि ऐडम के पाप से हमारी भूमि ही दूषित हो चुकी है; इसका उद्धार केवल क्राइस्ट के रक्त से ही सम्भव है। क्राइस्ट का रक्त प्रभु के पुत्र की बलि है; पुरुषसूक्त के विराट पुरुष की बलि है। यह परमप्रभु की करुणा, अनुकम्पा और कृपा है।

ऑगस्टीन ने इसीलिए ग्रीक परम्परा को नकारा कि केवल जानने से, केवल ज्ञान से कुछ नहीं होने वाला। 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय। ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय'। सत्य के संसार में प्रवेश का मार्ग, प्रभु से मिलन की राह बुद्धि से नहीं, हृदय से होकर जाती है। इसलिए वहीं, हृदय में, अहर्निश,

रात–दिन, चौबीसों घण्टे प्रभु का ध्यान करना होगा, उनका दरवाजा खटखटाना होगा, उन्हें पुकारना होगा। और फिर जैसे कृष्णमूर्ति ने कहा, उनकी प्रतीक्षा करनी होगी – 'वे आ भी सकते हैं; और नहीं भी आ सकते हैं।' यही तो ऑगस्टीन और अक्वाइनस की कृपा–विषयक दृष्टि है। हर युग में, हर समाज में, करोड़ों लोगों को वह कृपा प्राप्त हुयी है। वह सभी को, और किसी को भी, घोड़ा को भी, प्राप्य है।

अभ्यास प्रश्न – 2

निम्नलिखित में सत्य/असत्य कथन का चयन कीजिये–

1. ज्ञान का मार्ग सत्य की खोज है।

2. प्लेटो का मानना है कि विवेकहीनता ही चोरी, विश्वासघात और देशद्रोह के मूल में है।

3. क्रोध क्षमा से शान्त नहीं होता है।

4. गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन है –अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।।'

5. तितिक्षावादी मान्यता है कि इन्द्रियजन्य सुखों की लालसा, इच्छाओं, शोक और भय का कारण भ्रमित दृष्टि नहीं है।

9.7 सारांश

इस इकाई में आपने जाना कि –

- व्यक्ति और व्यक्तित्व से हमारा तात्पर्य क्या है।
- रूपान्तरण की संकल्पना क्यों की जाती है।
- मानव व्यक्तित्व और समाज का वर्तमान स्वरूप कैसा है।
- रूपान्तरण के दो मार्ग, ज्ञान–मार्ग और प्रेम–पथ क्या हैं।
- दुर्योधन के प्रश्न का क्या तात्पर्य है।

9.8 स्व–अध्ययन हेतु प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न – 1 का उत्तर

1. क
2. ग
3. ख
4. ख
5. ग

अभ्यास प्रश्न–2 के उत्तर

1. सत्य
2. सत्य
3. असत्य
4. सत्य
5. असत्य

9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

Ainapure, Vasudeva, Ed.*Mahabharata with the commentary Bhavdipa of Nilakantha*. Bombay: Gopal Narayan & Co., 1901. e-text at ASCI.

Ganguli, Kisari Mohan.*Mahabharata e-text*. Project Gutenberg, 2005.

Thilly, Frank.*A History of Philosophy.*3rd edition (Revised by Ledger Wood), 1956. Allahabad: Central Book Depot, 1965. Reprint.

https://hi-wikipedia-org/wiki/दसधर्मादेश

https://hi-wikipedia-org/wiki/मूसा

Pandeya, Pt. Ramnarayandatta Shashtri, Tr. Mahabharata. Gorakhpur: Gita Press, 1965.

खण्ड – 4

महापुरूष : परिचय एवं जीवन मूल्य

खण्डप्राक्कथन

खण्ड एक में आपने मानव स्वरूप की अवधारणा के बारे में विस्तार से पढ़ाय खण्ड दो में भारतीय और पाश्चात्य परम्परा में मूल्य की अवधारणा, तथा खण्ड तीन में मूल्यों के ह्रास के विषय में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण की चर्चा की गयी। प्रस्तुत खण्ड में हम आपका परिचय दस महापुरुषों से कराने जा रहे हैं, जिनका जीवन ही श्रेष्ठतम दर्शन तथा मूल्यों का उदाहरण रहा है। अनुकरणीय मूल्यों और आचार की सार्वभौमिक उपस्थिति रेखांकित करने के लिए हमनें विभिन्न कालखण्डों तथा समाजों से इन महापुरुषों का चयन किया है। इतिहास में ऐसे अनेकों महापुरुषों का वर्णन मिलता है, परन्तु पाठ्यक्रम की सीमा के कारण इस चयन में प्रयास है कि हर युग और समाज का यहाँ प्रतिनिधित्व हो सके।श्रेष्ठ आचार और मूल्यों की आपकी तलाश केवल इन्हीं महापुरुषों के जीवन–दर्शन तक सीमित नहीं है। ऐसे उदाहरण हमारे जीवन में श्रेष्ठत्व–प्राप्ति की लौ लगाते हैं। इस लौ को अग्निशिखा में परिवर्तित करना सम्पूर्ण जीवन की साधना है। जीवन में अनेकों बार ऐसे क्षण आयेंगे, जब आप अपने को एक ऐसे चौराहे पर खड़ा पायेंगे जहाँ से आगे का रास्ता नहीं सूझता। इन अवसरों पर सही समझ और दृष्टि ही आपको भ्रम के घने कोहरे के पार का मार्ग दिखाती है। लड़खड़ाते हुए ही सही, यदि आप इस भ्रमजाल को चीर कर दो कदम भी आगे बढ़ा पाये, तो एक दिन अवश्य आप अपनी यात्रा के अन्तिम शिखर को छू पाने में सफल होंगे। इस यात्रा के हर कदम पर इन महापुरुषों का जीवन आपके लिए पथ–प्रदर्शक सिद्ध होगा।

जीवन के हर क्षेत्र में महापुरुषों की एक लम्बी कतार दिखायी देती है। उद्योग और अर्थ जगत में वारेन बफेट, रॉकफेलर परिवार, स्टीव जॉब्स और अजीम प्रेमजी का नाम आता है, जिन्होंने मानवता के विकास के लिए अपने धन और कौशल का दान दिया है। राजनैतिक पटल पर महात्मा गाँधी, नेल्सन मण्डेला, अब्राहम लिंकन, और मार्टिन लूथर किंग जूनियर का नाम महापुरुषों की श्रेणी में आता है, जिन्होंने मानव जाति को न्याय दिलाने के लिए जीवन पर्यन्त संघर्ष में अभूतपूर्व आत्मबल का परिचय दिया है। राजपरिवार के ऐतिहासिक महापुरुषों में अकबर, अशोक और बुद्ध का नाम लिया जाता है। इसी तरह खेल के मैदान से जेसी ओवेन्स और मुहम्मद अली महान व्यक्तित्व रहे हैं। वैज्ञानिकों में न्यूटन, डारविन, आइन्स्टाइन और स्टीफन हॉकिंग्सय विचारकों में मार्क्स और फ्रॉयड के नाम आते हैं जिन्होंने मानव विकास को नयी दिशा दी है।

लेखकों में इसी महत् तत्त्व की उपस्थिति के कारण हैरिअट स्टो की पुस्तक 'अंकल टॉम्स केबिन' ने अमरीकी गृह युद्ध में मूल्यों की विजय तथा बंकिम चन्द्र चटर्जी की 'आनन्द मठ' ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में सकारात्मक दिशा परिवर्तन का योगदान दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि महानता का यह तत्त्व केवल मानव जाति में ही नहीं

अपितु सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान है, इसीलिए चेतक जैसे अश्व में भी यही महानता परिलक्षित है।

ऊपर जितने भी नाम हमने लिये हैं, उन सभी में सामान्य रूप से जो गुण दिखायी देते हैं, वे हैं – करुणा, सर्वहिताय न्याय के लिए संघर्ष करने का अदम्य साहस, मानव जाति के उत्थान के लिए ज्ञान और सत्य की सतत तलाश, और स्वार्थ से परे सार्वभौमिक कल्याण के लिए समर्पित जीवन। मानव मूल्यों को किस तरह व्यावहारिक जगत में उतारा जा सकता है, इन सभी का जीवन इसका ठोस उदाहरण है। महापुरुषों का जीवन हमारे लिए हमेशा पथ प्रदर्शक का काम करता है।

ईकाई. 10 महापुरुष : परिचय एवं जीवन मूल्य – सन्त फ्रांसिस, मार्टिन लूथर , किंग जूनियर, तथा एमरसन

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देदेश्य

10.3 सन्त फ्रांसिस ऑफ असीसी

10.4 डॉ. मार्टिन लूथर किंग जूनियर

10.5 एमरसन

10.6 सारांश

10.7 पारिभाषिक शब्दावली

10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

10.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई खण्ड 04 की प्रथम इकाई है। इस इकाई में हम आपका परिचय संत फ्राँसिस, डॉ. मार्टिन लूथर किंग जूनियर एवं रैल्फ़ वॉल्डो एमर्सन से कराएँगे, इन तीनों व्यक्तियों की गणना पश्चिमी संस्कृति के श्रेष्ठतम महापुरूषों में की जाती है। इन सभी का जीवन मानव मूल्यों का प्रभावशाली उदहारण प्रस्तुत करता है।

सर्वप्रथम हम संत फ्राँसिस के बारे में पढ़ेंगे। संत फ्राँसिस तेरहवीं शताब्दी के एक इतालवी संत थे, फ्राँसिस का जन्म एक धनवान परिवार में हुआ था। बचपन से ही फ्राँसिस दयालु प्रवृति के थे। जैसे–जैसे फ्राँसिस बड़े हुए, उनके हृदय में सेवाभाव भी जागृत होने लगा। फ्राँसिस ने अपना सम्पूर्ण जीवन दीन–दुखियों की सेवा तथा ईश्वर की प्राप्ति के लिए समार्पित किया तथा ''दरिद्रता'' को एक नई दृष्टि से देख कर उसको एक नया स्वरूप प्रदान किया।संत फ्राँसिस के पश्चात हम डा. मार्टिन लूथर किंग जूनियर के बारे में अध्ययन करेंगे। डॉ किंग एक नागरिक अधिकार प्रचारक थे जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन अमेरिका में नसलीय भेदभाव की खाई को कम करने के लिए समर्पित किया। डॉ किंग महात्मा गाँधी को अपना प्रेरणास्त्रोंत मानते थे तथा नसलीय भेदभाव के खिलाफ अपनी लड़ाई में उन्होंने अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाकर कई महत्वपूर्ण आन्दोलनों का सफलता पूर्वक नेतृत्व किया।

महापुरूषों की जीवनी की इस कड़ी में तीसरे व्यक्तिव है, रैल्फ वॉल्डो एमर्सन। एमर्सनउन्नीसवीं शताब्दीं के एक अमरीकी लेखक एवं दार्शनिक थे जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अतीन्द्रियवाद(Transcendentalism) के दर्शन का प्रतिपादन किया। एमर्सन के विचारों में आत्मा, प्रकृति, ईश्वर, स्वतंत्रता, आत्म निर्भरता जैसे विषयों की प्रमुखता है। अपने लेखों एवं अभिनव विचारों द्वारा एमर्सन ने अमरीकी साहित्य एवं दर्शनशास्त्र के **क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया।**

10.2. उद्देश्य

- तीन महापुरूषों (संत फ्रान्सिस, मार्टिन लूथर किंग जूनियर एवं एमर्सन) के बारे में अपने विचार व्यक्त कर सकेंगे।
- आपको ''निर्धनता'' को एक नये प्रकाश में देखने की दृष्टि मिलेगी।
- आप अमेरिका में नसलीय भेदभाव के ऊपर टिप्पणी कर सकेंगे तथा इस निन्दनीय खाई को कम करने में डा. मार्टिन लूथर किंग के योगदान का उल्लेख कर सकेगे।
- अतीन्द्रियवाद Transcendentalism तथा उससे सम्बंधित महत्वपूर्ण बिन्दुओं को समझने की चेष्टा कर सकेंगे।

10.3 सन्त फ्रांसिस ऑफ असीसी

सन्तफ्रांसिस का जन्म सन ११८१ में इटली के असीसी नगर में एक समृद्ध परिवार में हुआ था। उनका बचपन का नाम जोवान्नी डी बर्नार्डोनी था। उनकी माता का नाम पाइका ड बूर्लमॉन्ट था। उनके पिता पिएट्रो डी बर्नार्डोनी रेशम के व्यापारी थे और वे चाहते थे कि उनका पुत्र इस व्यापार को आगे बढ़ाये। युवा फ्रांसिस शौकीन तो थे, मगर धन–दौलत के प्रति उनमें कोई विशेष आसक्ति नहीं थी। वे प्रायः उदारता पूर्वक अपने मित्रों की मदद किया करते थे।

मध्यकालीन युग में यूरोप के हर छोटे छोटे देश प्रभुत्व के लिए हमेशा आपस में लड़ा करते थे। परिणाम स्वरूप उनके युवाओं में राष्ट्रभक्ति कूट कूट कर भरी हुई थी, और वे सभी सेना में शामिल होकर अपने देश की सेवा के लिए आतुर रहते थे। फ्रांसिस भी इसी भाव से असीसी की सेना में भर्ती हो गये। परन्तु एक दिन पड़ोसी राष्ट्र के साथ युद्ध के दौरान फ्रांसिस को ईश्वर की वाणी सुनायी पड़ी कि किसी की जान लेना जघन्य पाप है। फ्रांसिस ने अपने हथियार डाल दिए और युद्ध लड़ने से मना कर दिया। नतीजा यह हुआ कि उन्हें देशद्रोही करार करते हुए जेल की कालकोठरी में डाल दिया गया। वर्षों बाद जेल से रिहा होने के पश्चात जब फ्रांसिस घर वापस आ रहे थे, तो वे रास्ते में सैन डेमिआनो के अति जीर्ण गिरिजाघर में प्रार्थना करने के लिए रुके। यहाँ एक बार फिर उन्हें इस गिरिजाघर का जीर्णोद्धार करने का ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ। परन्तु जीर्णोद्धार अकेल हाथों से तो किया नहीं जा सकताय उसके लिए धन की भी आवश्यकता होती है। फ्रांसिस को एक उपाय सुझायी पड़ा और वे अपने पिताजी की दुकान पर बैठने लगे। व्यापार में जो लाभ होता, उसे वे जीर्णोद्धार के काम में लगा देते। पिताजी को जब इसका पता चला तो वे आग–बबूला हो उठे। उन्होंने न केवल फ्रांसिस को घर से निकाल दिया, बल्कि पुत्र के साथ अपने सभी सम्बन्ध विच्छेद कर लिए। फ्रांसिस के लिए अब परमपिता परमेश्वर ही उनके पिता थे और उनके चरणों में उन्होंने अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया।

अब दया और करुणा के भाव से फ्रांसिस का हृदय ओतप्रोत था। जीजस क्राइस्ट की भाँति, फ्रांसिस ने भी कुष्टरोगियों की सेवा का व्रत उठाया, और असीसी शहर के बाहर स्थित कुष्टाश्रम के रोगियों की सेवा–सुश्रुषा में लग गये। इसके साथ ही फ्रांसिस ने साधना की प्राचीन परम्परा के अनुसार निर्धनता से जीवन यापन करने का निर्णय लिया। अपरिग्रह या धन एवं अनावश्यक वस्तुओं के त्याग से सांसारिक वासनाओं से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। ऐसी प्राचीन मान्यता है कि संसार की सत्ता से मुक्ति ही निर्वाण है, मोक्ष है। गरीबी से जीवन यापन करना ईसाई धर्म में श्रेष्ठतम सदाचारों में गिना जाता है। बाइबल में लिखा है कि सुई के छेद में से ऊँट निकल जाय, यह सम्भव हो सकता है, मगर धनवान व्यक्ति का स्वर्ग में प्रवेश कतई सम्भव नहीं है। रोमन

कैथलिक सम्प्रदाय की तीन ईंजलिक आधारशिलाओं में निर्धनता का जीवन प्रमुख हैय अन्य दो हैं – ब्रह्मचर्य एवं आज्ञाकारिता। आज भी इस सम्प्रदाय के अनगिनत साधक अपरिग्रह का जीवन व्रतपूर्वक जीते हैं, और इस परम्परा के अलग अलग रूप विभिन्न धर्मों – यथा, हिन्दू, बौद्ध, जैन और इस्लाम – में पाये जाते हैं। टॉल्सट्वाय, मदर टेरेसा, पोप फ्रांसिसय बुद्ध, कबीर, नानक, गाँधी और रामकृष्ण परमहंस इस सादगीपूर्ण जीवन के उदाहरण हैं।

जैसे जैसे फ्रांसिस भौतिक जगत की अनावश्यक वस्तुओं और प्रलोभनों का त्याग करते गये, वैसे वैसे उन्हें प्राप्त होने वाले ईश्वरीय संदेशों की निरन्तरता और तीव्रता बढ़ती गयी। यह संदेश उन्हें हमेशा अहम् या स्व का अधिक से अधिक त्याग करने की प्रेरणा देते। इनसे उन्हें यह भी पता चलता था कि ईश्वर उन्हें किस पथ पर ले जाना चाहता है। धीरे धीरे उनकी आध्यात्मिक चेतना एक दृढ़, स्थिर और स्पष्ट आकार लेने लगी। उनके आसपास के लोगों को उनमें एक अलौकिक आकर्षण दिखायी देने लगा। इस साधारण सी वेशभूषा वाले मसीहा के उद्बोधन में जो दिव्यता झलकती थी, वह चर्च के परिधान से विभूषित पादरियों में दूर दूर तक नहीं थी। धीरे धीरे फ्रांसिस के अनुयायियों की संख्या तेजी से बढ़ने लगी। उनके प्रथम बारह शिष्यों में व्यापारी, कृषक, मोची, पण्डित, शूरवीर और अभिजात्य वर्ग के लोग शामिल थे, ठीक वैसे ही जैसे जीजस क्राइस्ट की शिष्य–मण्डली में थे। अपने आराध्य क्राइस्ट की भाँति इन्होंने भी असीसी के लोगों को ईश्वर का शुभ संदेश देना प्रारम्भ कर दिया।

फ्रांसिस के इन बारह शिष्यों ने एकमत से निर्णय लिया कि वे प्रभु ईशा मसीह के पवित्र संदेश के अनुसार बिना किसी वस्तु का संग्रह किए सादगी एवं ब्रह्मचर्य का जीवन जियेंगे। परन्तु प्रभु के सन्देश का प्रचार करने के लिए उन्हें चर्च की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था। इसी उद्देश्य से सन १२०६ में फ्रांसिस तत्कालीन गद्दी पर विराजमान पोप इनोसेन्ट से अपना संघ स्थापित करने की अनुमति प्राप्त करने के लिए मिले। उन्होंने बताया कि यह संघ यीशु के बताये गये दो प्रमुख सदाचारों – भिक्षाटन एवं कठोर आत्मसंयम – पर आधारित होगा। अट्ठाइस वर्ष के युवा फ्रांसिस की संकल्पशक्ति देख कर पोप इनोसेन्ट अत्यन्त प्रभावित हुए और इस नये संघ की स्थापना की सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी।

संघ की स्थापना के पश्चात फ्रांसिस ने प्रभु के संदेश को विश्व के कोने कोने में पहुँचाने के लिए पोप की अनुमति प्राप्त की। इस अभियान में फ्रांसिस ने येरुशलम, मोरक्को और ट्युनिस की यात्रा की। अपने मृदु स्वभाव के कारण वे हर जगह लोकप्रिय हुए, और अपने धर्म के प्रचार प्रसार में उन्होंने आशातीत सफलता प्राप्त की। इस कार्य में उन्हें एक लम्बी अवधि तक विदेश में प्रवास करना पड़ा। इस दौरान उनके संघ के भिक्षुओं की संख्या कई गुनी बढ़ गयी। संघ के आदर्शों से भटक कर अनेक भिक्षु

आरामतलबी और विलासिता का जीवन जीने लगे थे। फ्रांसिस ने वापस आ कर संघ की यह स्थिति देखी तो उन्हें बहुत कष्ट हुआ। पहले तो उन्होंने इन भटके हुए भिक्षुओं को समझा बुझा कर सन्मार्ग पर लाने की कोशिश की, परन्तु जब उनके समझाने का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा तो फ्रांसिस ने अपने को संघ से अलग कर लिया। अपना शेष जीवन फ्रांसिस ने अपनी छोटी सी कुटिया के एकान्त में उपवास, प्रार्थना और लेखन करते हुए बिताया।

प्राचीन काल से प्रमाण मिलते हैं कि भक्त के मन, प्राण और शरीर में उसके आराध्य के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। ईसाई धर्म में भक्तों के शरीर पर यीशु की सूली पर शारीरिक यातना के लक्षण दिखायी देते हैं जिन्हे स्टिगमेटा कहा जाता है। जीवन के अन्तिम काल में फ्रांसिस की देह पर भी यीशु की सूली के लक्षण दिखने लगे थे। कठोर साधना में एकाग्रचित्त फ्रांसिस अपने शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं दे रहे थे। परिणाम स्वरूप उनकी सेहत गिरने लगी, और अन्ततः ३ अक्टूबर १२२६ को मात्र ४५ वर्ष की आयु में फ्रांसिस ने अपना देहत्याग कर दिया।

मनसा, वाचा, कर्मणाा, सन्त फ्रांसिस पूर्णरूपेण अपने आराध्य प्रभु यीशु के अनुयायी थे। प्रभु को समर्पित उनका जीवन ही उनकी शिक्षा है। आपने देखा कि किस तरह एक बार फ्रांसिस को अपने जीवन की दिशा के दर्शन हुए तो उस मार्ग पर वे बिना डिगे, बिना डगमडाये, जीवन पर्यन्त चलते रहे। इससे हमें उनके दृढ़ विश्वास और श्रद्धा का पता चलता है। यह वे मूल्य हैं, जिनके बिना अर्थवत्तापूर्ण जीवन की डगर पर एक कदम भी नहीं चला जा सकता। समर्पण की इस राह पर फ्रांसिस ने अपने माता–पिता, घर–परिवार, धन–दौलत सभी का पूर्णरूपेण त्याग कर दिया। हम चाहें कि अपनी एक जेब में संसार की मौज–मस्ती रखें और दूसरी में धर्म एवं ईश्वर तो यह कतई सम्भव नहीं है – यही शिक्षा हमें सन्त फ्रांसिस के जीवन से मिलती है। फ्रांसिस को केवल मानवता से ही नहीं, बल्कि सभी जीव–जन्तुओं, प्रकृति तथा सम्पूर्ण सृष्टि से प्यार था। इसीलिए सन्त फ्रांसिस को पर्यावरण और सम्पूर्ण प्राणि जगत के संरक्षक सन्त होने का सम्मान प्राप्त है। उनके जीवन से हमें सादगीपूर्ण और सत्यनिष्ठा का जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है।

10.4 . डॉ. मार्टिन लूथर किंग जूनियर

तेरहवीं सदी के सन्त महापुरुष फ्रांसिस के बाद हम आपका परिचय बीसवीं सदी अमेरिका के महापुरुष डॉ. मार्टिन लूथर किंग जूनियर से कराने जा रहे हैं। एक पादरी का पुत्र होने के कारण किंग जूनियर को ईसाई धर्म के संस्कार और शिक्षा–दीक्षा विरासत में प्राप्त हुयी। यहाँ तक कि उन्होंने अपनी पीएच. डी. थीसिस भी धर्मशास्त्र पर लिखी, और पादरी के पद पर चर्च की सेवा का मार्ग चुना। परन्तु विधाता ने उनके लिए

कोई और ही मार्ग चुन रखा था। बीसवीं सदी का युगधर्म कुटिया में रह कर ईशा मसीह के पवित्र संदेश के प्रचार प्रसार का नहीं, बल्कि सामाजिक सरोकारों में मानवता के उत्थान के संघर्ष का रहा है। इस युग के मसीहा और आदर्श गाँधी हैं, फ्रांसिस नहीं। डॉ. किंग ने भी गाँधी से अहिंसा और असहयोग आन्दोलन का पाठ सीखा और जीवन पर्यन्त अफ्रीकी नस्ल के लोगों को अमेरिकी समाज में समानता का अधिकार दिलाने के लिए संघर्षरत रहे। यह युग वैयक्तिक दासता का नहीं, बल्कि समाजों और संस्कृतियों की गुलामी का रहा है। इसलिए कलोनिअल और पोस्ट–कलोनिअल चेतना का संघर्ष व्यक्ति के मोक्ष के लिए नहीं, समाजों और संस्कृतियों की मुक्ति के लिए है।

मार्टिन लूथर किंग जूनियर का जन्म अमेरिका के जॉर्जिया प्रदेश की राजधानी ऐटलान्टा में १५ जनवरी १६२६ को हुआ था। उनकी माँ का नाम अल्बर्टा विलियम किंग तथा पिता का नाम माइकेल किंग था। पिता जी चर्च में पादरी थे तथा सोलहवीं सदी के जर्मन दार्शनिक एवं समाज सुधारक मार्टिन लूथर से इतनाप्रभावित थे कि उन्होंने न केवल अपना नाम बदल कर मार्टिन लूथर किंग रख लिया, बल्कि यही नाम उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र का भी रखा। परिणामतः पिता के नाम के आगे सीनियर और पुत्र के नाम के साथ जूनियर की संज्ञा जोड़ना अनिवार्य हो गया।

किंग जूनियर बचपन से ही मेधावी प्रतिभा के धनी थे। स्कूल में उन्होंने दो बार एक साथ दो कक्षाओं की परीक्षा उत्तीर्ण की। साथ ही वे एक कुशल वक्ता भी थे, जिसके कारण उन्हें वाद–विवाद प्रतियोगिताओं के लिए स्कूल की टीम में स्थान दिया जाता था। किंग जूनियर ने बाद में अफ्रीकी–अमेरिकी नागरिक अधिकार आन्दोलन में अपनी इस प्रतिभा का बखूबी इस्तेमाल किया।

घर में धार्मिक माहौल होने के कारण किंग जूनियर को बचपन से ही चर्च के क्रियाकलापों में शामिल किया जाने लगा। वे बहुत अच्छा गाते थे, इसलिए चर्च के प्रार्थना–गायन में हमेशा भाग लिया करते थे। माँ की संगीत शास्त्र पर अच्छी पकड़ थी, और उन्होंने किंग जूनियर को न केवल संगीत की शिक्षा दी बल्कि उन्हें अच्छा संगीतज्ञ बनने के लिए प्रेरित भी किया। माँ के शान्त एवं मृदुल स्वभाव के विपरीत, पिताजी कठोर अनुशासन में विश्वास रखते थे, और आवश्यक होने पर बच्चों की पिटाई करने से तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे।

किंग सीनियर मानव समानाधिकार के समर्थक थे, और गोरी नस्ल के असमानता तथा भेदभाव के आचरण का अपने स्तर से विरोध प्रदर्शन भी किया करते थे। समानता के संघर्ष का पहला पाठ किंग जूनियर ने अपने पिता से ही सीखा। जैसे जैसे वे बड़े हुए, उन्होंने अनेको बार गोरों के भेदभाव और अपमानपूर्ण व्यवहार का दर्द सहा। ऐसे व्यवहार से अन्य अफ्रीकी–अमेरिकन लोगों की तरह ही किंग जूनियर का भी मन

अवसाद और निराशा से भर जाता था। कुछ परिवार के संस्कार, और बहुत कुछ इस विषाद ने उन्हें ईश्वर की शरण में उन्मुख होने के लिए प्रेरित किया।

कई बार देखा गया है कि जब व्यक्ति को कोई राह नहीं सूझती तो वह ईश्वर की ओर मुड़ कर रास्ता तलाशता है। कुछ ऐसा ही सम्भवतः किंग जूनियर के साथ घटित हुआ। नियमित पढ़ाई खत्म करते ही वे चर्च की पूर्णकालीन सेवा में चले गये और फिर बोस्टन विश्वविद्यालय से धर्मशास्त्र में पीएच.डी. की उपाधि भी प्राप्त की। बोस्टन में शिक्षा के दौरान ही उनकी मुलाकात अपनी भावी पत्नी कोरेटा स्कॉट से हुयी। कोरेटा को संगीत में रुचि थी, और वे एक अच्छी गायिका थीं। १९५३ में विवाह के पश्चात कोरेटा ने अपनी संगीत की महत्वाकाँक्षा को किनारे करते हुए परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व को अधिक महत्व देना उचित समझा। परन्तु कालान्तर में जब वे नागरिक अधिकार आन्दोलन में अपने पति के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़ी हुयीं, तब जनमानस के जागरण के लिए उन्होंने अपनी संगीत की प्रतिभा का भरपूर उपयोग किया।

यहाँ पर हमें अमेरिका में दास–प्रथा के इतिहास के कुछ मुख्य तथ्य जानना आवश्यक है। सैद्धान्तिक रूप में सन १८६५ में अमरीकी गृह युद्ध के पश्चात दास–प्रथा समाप्त कर दी गयी थी। लेकिन व्यावहारिक स्तर पर गोरे और कालों का सामुदायिक अलगाव और भेदभाव एक लम्बे समय तक व्यवहार में रहा, विशेषकर किंग जूनियर के कार्यक्षेत्र जॉर्जिया और ऐलबामा जैसे दक्षिणी राज्यों में, जिन्हें गृह युद्ध के दौरान कन्फेडरेट्स के नाम से जाना जाता था और जहाँ दास–प्रथा सदियों से प्रबल रूप से विद्यमान थी। दास–प्रथा तो नहीं, परन्तु गोरे और कालों का भेदभाव हमने अपने यहाँ भी अंग्रेजी शासन के दौरान भरपूर झेला है।

अमेरिका में अफ्रीकी–अमेरिकन लोगों की नस्लीय प्रताड़ना की कथा वास्तव में अत्यन्त कष्टप्रद रही है। वे अपने शहर के अच्छे इलाकों में रह नहीं सकते थेय उनका स्थान केवल शहर की मलिन बस्तियों, जिन्हें गेटो (हीमजजव) कहा जाता है, तक सीमित था। उनके बच्चों का प्रवेश गोरों के स्कूल में वर्जित था। वे गोरों के लिए बनी जन–सुविधाओं या शौचालयों का प्रयोग नहीं कर सकते थे। उन्हें बसों की अगली सीट पर बैठना मना थाय इतना ही नहीं, गोरे मुसाफिर के आने पर उन्हें अपनी सीट छोड़नी पड़ती थी। इस मसले पर उन्हें न्यायालय से भी कोई राहत नहीं मिली। अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि व्यावहारिक स्तर पर नस्लीय अलगाव गैरकानूनी नहीं है, बशर्ते गोरी और काली दोनों नस्लों को समान सुविधाएं प्राप्त हों – यथा, दोनों नस्लों को बस में बैठने का अधिकार हैय दोनों को स्कूल की सुविधा हैय दोनों के पास घर और जन–सुविधाएं हैं।

सुप्रीम कोर्ट के इस आपत्तिजनक निर्णय के पश्चात अफ्रीकी–अमेरिकन लोगों का आक्रोश मुखर हो उठा। हर जगह उन्होंने इस अलगाववादी व्यवहार का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। एक ऐसी ही घटना दिसम्बर १६५५ में ऐलबामा राज्य के मॉन्टगॉमरी शहर में घटी। रोजा पार्क्स नाम की एक अफ्रीकी–अमेरिकन महिला ने किसी गोरे मुसाफिर के लिए अपनी बस की सीट खाली करने से मना कर दिया। इस कृत्य को सम्पूर्ण गोरी नस्ल का अपमान करार करते हुए, रोजा पार्क्स को हिरासत में ले लिया गया और उसे एक रात सलाखों के पीछे बितानी पड़ी। रोजा पार्क्स के समर्थन में अफ्रीकी–अमेरिकन समुदाय ने बस सेवाओं का राष्ट्रव्यापी बहिष्कार प्रारम्भ कर दिया। इस राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का नेतृत्व डॉ. मार्टिन लूथर किंग जूनियर और उनके मित्र ई.डी. निक्सन कर रहे थे। अमेरिका के इतिहास में यह आन्दोलन आज भी मॉन्टगॉमरी बस बायकाट के नाम से प्रसिद्ध है। इस आन्दोलन के दौरान गोरों ने काली नस्ल के लोगों को अनेकानेक प्रकार से प्रताड़ित किया – उन्हें बुरी तरह से पीटा गयाय उनकी बस्तियों मे बम फेंककर उनके घर जला दिए गयेय उनकी स्त्रियों का बलात्कार किया गयाय डॉ. किंग और उनके सहयोगियों को बार बार जेल में डाल दिया गया। परन्तु इतनी प्रताड़ना के बावजूद अफ्रीकी–अमेरिकन समुदाय ने हार नहीं मानी और उनका बस सेवाओं का राष्ट्रव्यापी बहिष्कार एक वर्ष के ऊपर चलता रहा। बस कम्पनियों का घाटा बढ़ता जा रहा था। अन्ततः दिसम्बर १६५६ में सुप्रीम कोर्ट ने ऐतिहासिक फैसला सुनाया कि बस सेवाओं मे नस्लीय भेदभाव असंवैधानिक है। अफ्रीकी–अमेरिकन लोगों के लिए यह अभूतपूर्व विजय थी, और इस विजय से उनके समान नागरिक अधिकारों के संघर्ष को अत्यन्त बल मिला।

गोरों की जिस मानसिकता के खिलाफ किंग जूनियर संघर्ष कर रहे थे, लगभग वैसी ही परिस्थितियों में महात्मा गाँधी ने भी ऐसा ही संघर्ष पहले दक्षिण अफ्रीका में और बाद में भारत में किया था। अपने युग में गाँधी जी का प्रभाव पूरे विश्व पर था, और किंग भी इस प्रभाव से अछूते नहीं थे। जब वे मोरहाउस कॉलेज में विद्यार्थी थे, उस समय किंग जूनियर ने अपने प्रधानाचार्य बेंजमिन एलाया मेज की प्रेरणा से पहली बार गाँधी जी के साहित्य का अध्ययन किया। गाँधी फाउन्डेशन, अमेरिका के शिवदास लिखते हैं, "मेज अपनी भारत यात्रा के पश्चात बहुत से अन्य अफ्रीकी–अमेरिकियों की भाँति गाँधी जी के शिष्यके रूप में लौटे थे, और किंग के जीवन पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा।" जून १६५६ में नेशनल एसोसिएशन फॉर दि एडवांसमेंट ऑफ कलर्ड पीपल के राष्ट्रीय अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए किंग जूनियर ने कहा कि "आत्मा के बल से ही मोहनदास गांधी अपने देशवासियों को ब्रिटेन की राजनीतिक दासता, आर्थिक शोषण और अपमान से मुक्त करवा पाए।" "द ऑटोबायग्राफी ऑफ मार्टिन लूथर किंग, जूनियर" में उल्लेख मिलता है कि किंग ने एक बार कहा, "मोंटगोमरी बहिष्कार के दौरान अहिंसक सामाजिक परिवर्तन की हमारी नीति के प्रेरणास्रोत भारत के गाँधी थे। जैसे ही

बसों में भेदभाव के मुद्दे पर हमें विजय मिली, मेरे कुछ मित्रों ने सलाह दीरू तुम भारत जाकर महात्मा का काम क्यों नहीं देख आते, तुम तो उनके बहुत प्रशंसक हो?"

अन्ततः जब फरवरी १६५६ में पत्नी कोरेटा के साथ किंग एक माह से अधिक के लिए भारत भ्रमण पर आये तो उन्होंने अपनी इस यात्रा को तीर्थयात्रा की संज्ञा दी। भारत में उन्होंने पण्डित नेहरू, डॉ. राधाकृष्णन, विनोबा भावे, जे.बी. कृपलानी सहित गाँधी जी के अनेक अनुयायियों से मुलाकात की। अपनी यात्रा की विदाई सन्ध्या पर दिए गये रेडियो संदेश किंग ने कहा –"भारत में अपने इस प्रवास के बाद मैं पहले से कहीं अधिक विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि विश्व के तमाम दलित समुदायों के लिए उनके न्याय और सम्मान प्राप्ति के संघर्ष में अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन से बेहतर कोई अन्य मार्ग नहीं है। गाँधी जी ने अपने जीवन में जिन मूल्यों को साकार किया वे सृष्टि की धर्मकाया में शाश्वत रूप से अवस्थित हैं, और यह गुरुत्वाकर्षण की तरह ऐसे सिद्धान्त हैं जिनसे कोई भी अछूता नहीं बच सकता।"

समान नागरिक अधिकारों (ब्पअपस त्पहीजे) की अहिंसात्मक संघर्ष से प्राप्ति के लिए किंग ने फ्रेड शटलवर्थ, जोजफ लोअरी और रैल्फ ऐबरनेथी के साथ 'सदर्न क्रिश्चियन लीडरशिप कॉन्फ्रेन्स' (ैब्स्ब्) की स्थापना की। इस संघर्ष में किंग और उनके साथियों को तमाम यातनाओं का सामना करना पड़ा। जैसा कि आप पहले ही पढ़ चुके हैं, गोरों द्वारा आन्दोलनकारियों को बुरी तरह पीटा जाता था, उनके घरों को बम से उड़ा दिया जाता था, और उन्हें हर प्रकार की धमकियाँ दी जाती थी। किंग जूनियर इन सभी यातनाओं को अपने आराध्य प्रभु यीशु मसीह की भाँति सह जाते थे। एक बार जब उनके घर पर बमबारी हुई तो उन्होंने अपने समर्थकों से प्रार्थना की कि वे इसके विरोध में उग्र न हों। किंग का दृढ़ विश्वास था कि हिंसा से कोई भी आन्दोलन हमेशा हार जाता हैय वह कभी सफल नहीं हो सकता।

१६५७ से १६६८ में अपनी मृत्यु तक किंग जूनियर ने कई आन्दोलनों का नेतृत्व किया, जिनमें प्रमुख हैं – ऐलबानी आन्दोलन, बर्मिंघम अभियान, सेलमा से मॉन्टगॉमरी का जुलूस, और वाशिंगटन मार्च। इन दस वर्षों के संघर्ष में किंग ने साठ लाख मील की यात्रा की, पाँच पुस्तकों की रचना की, और ढाई हजार से अधिक ओजस्वी भाषण दिये। १६६३ में वाशिंगटन मार्च के दौरान दिया गया उनका भाषण 'मेरा एक स्वप्न है' अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने कहा–

मित्रों, आज मैं आपसे कहता हूँ कि भले ही आज हम कठिनाइयों के दौर से गुजर रहे हों, फिर भी **मेरा एक स्वप्न है** , एक ऐसा स्वप्न जिसकी जडें अमेरिकी स्वप्न में निहित हैं।

मेरा स्वप्न है कि एक दिन यह देश ऊपर उठेगा और सार्थक रूप से अपने इस सिद्धान्त को जी पायेगा कि "हमारी मान्यता है कि यह सत्य प्रत्यक्ष है, कि जन्म से प्रत्येक व्यक्ति समान है।" मेरा स्वप्न है कि एक दिन जॉर्जिया के लालिमा लिए पहाड़ों पर भूतपूर्व दासों के पुत्र और भूतपूर्व दास–स्वामियों के पुत्र भाइयों की तरह एक साथ मेज पर बैठ सकेंगे।३ मेरा स्वप्न है कि एक दिन यह ऐसा देश होगा जहाँ मेरे चारों छोटे बच्चों का मूल्यांकन उनकी त्वचा के रंग से नहीं बल्कि उनके चरित्र की गुणवत्ता से किया जायेगा। आज यह मेरा स्वप्न है।

यह डॉ. मार्टिन लूथर किंग जूनियर के संघर्षों का ही परिणाम है कि आज अमेरिकी समाज उत्तरोत्तर नागरिक समानता की ओर अग्रसर हो सका है। संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने 'नागरिक अधिकार अधिनियम १९६४' तथा 'मतदान अधिकार अधिनियम १९६५' का कानून पास करके इस दिशा में अभूतपूर्व कदम उठाया है।

१९६४ में मात्र पैंतीस वर्ष की आयु में डॉ. किंग को नोबेल शान्ति पुरस्कार प्रदान किया गया। पुरस्कार की सम्पूर्ण राशि उन्होंने नागरिक अधिकार आन्दोलन को दान कर दी। ४ अप्रैल १९६८ को जेम्स अर्ल रे नाम के एक सिरफिरे गोरे ने डॉ. किंग की गोली मार कर हत्या कर दी, ठीक वैसे ही जैसे उनके आदर्श पुरुष महात्मा गाँधी की हत्या की गयी थी।

मृत्यु के बाद डॉ. किंग को अनेक तरह से सम्मानित किया गया। उनके नाम पर वाशिंगटन राज्य के सर्वाधिक जनसंख्या वाले जिले का नाम 'किंग काउन्टी' रखा गया। उनके जन्म दिवस को राष्ट्रीय अवकाश घोषित किया गया है। उन्हें मृत्यु–पश्चात 'प्रेसीडेन्शियल मेडल ऑफ फ्रीडम' तथा 'कॉग्रेसनल गोल्ड मेडल ऑफ फ्रीडम' प्रदान किये गये। अनेक सड़कों, स्कूलों, इमारतों के नाम डॉ. मार्टिन लूथर किंग जूनियर के नाम पर रखे गये हैं। आज जब विश्व निरन्तर हिंसा और युद्ध के पागलपन की ओर अग्रसर है, डॉ. किंग और महात्मा गाँधी जैसे महापुरुष ही हमें सही रास्ता दिखा सकते हैं।

10.5. रैल्फ वॉल्डो एमर्सन

10.5.1. एमर्सन : जीवन परिचय

एक सन्त और एक नागरिक अधिकारों के संग्राम सेनानी के बाद हम आपका परिचय उन्नीसवी सदी अमेरिका के एक श्रेष्ठ मनीषी, जिन्हें कॉकॉर्ड का ऋषि भी कहा जाता है, रैल्फ वॉल्डो एमर्सन से कराने जा रहे हैं। एमर्सन एक प्रसिद्ध कवि, निबन्धकार, तथा परमसत्ता के चिन्तक और उपासक (ज्तंदेबमदकमदजंसपेज) थे। उन्होंने अत्यन्त मूर्त रूप में अमेरिकी चिन्तन को एक नयी और गहरी दिशा प्रदान की।

चूँकि एमर्सन को प्रमुखतः उनकी ट्रान्सेन्डेन्टलिजम के लिए जाना जाता है, इसलिए इस शब्द को हिन्दी में कैसे कहेंगे, इस पर विचार करना आवश्यक है। हिन्दी शब्दकोशों में इसके लिए अनेक शब्द गढ़े गये हैं, जिनमें प्रमुख हैं – अतिमावाद, अतीन्द्रियवाद, अन्तर्ज्ञानवाद, अतीतवाद, और सर्वातिशायी सिद्धान्त। इनमें कौन सा शब्द कितना उपयुक्त है, इसकी विवेचना फिर कभी की जा सकती है, किन्तु इतना तो साफ है कि इनमें से किसी की अनुगूँज हिन्दीभाषी मन में नहीं सुनायी देती। जिस शब्द को सुन कर मन के स्वर न बजें, वह शब्द मृत है, निष्प्राण है।

ऐसा क्यों होता है कि हिन्दी से अंग्रेजी और अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद की सम्पूर्ण भाषा ही प्रायः निष्प्राण पायी जाती है? दरअसल, अंग्रेजी के शब्द अंग्रेज मन की भूमि से उपजे हैं, और वे उसी भूमि में पुष्पित और पल्लवित होते हैंय ठीक वैसे ही, हिन्दी के शब्द अपने पूर्ण शैष्ठव में केवल हिन्दीभाषी मन में साकार हो सकते हैं। समस्या तब आती है, जब हम किसी एक जलवायु के पौधे को उसकी विजातीय जलवायु और भूमि में प्रत्यारोपित करते हैं। ठीक यही यहाँ ट्रान्सेन्डेन्टलिजम के साथ हो रहा है। एमर्सन का ट्रान्सेन्डेन्टलिस्ट चिन्तन बहुत सुन्दर और गरिमामयी हैय उसमें बहुत रस है। इतने अतीन्द्रीय सौन्दर्य वाले विचार के लिए 'अतिमावाद' जैसे निष्प्राण शब्द का प्रयोग एमर्सन के साथ सर्वथा अन्याय है। ट्रान्सेन्डेन्टलिजम के बारे में हम आगे बात करेंगेय यहाँ हमारा उद्देश्य केवल दो भिन्न संस्कृतियों के भेद की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना था।

एमर्सन का जन्म २५ मई १८०३ को अमेरिका के बॉस्टन नगर में हुआ था। जब वे केवल आठ वर्ष के थे, उनके पिता का देहान्त हो गया। १८३१ में जब एमर्सन केवल २७ वर्ष के थे, उनकी पत्नी एलेन का देहान्त हो गया। कुछ ही वर्षों बाद १८३४ में उनके भाई एडवर्ड, और १८३६ में एक और भाई चार्ल्स की मृत्यु हो गयी। युवावस्था में इतने प्रियजनों के खोने का गहरा प्रभाव एमर्सन के जीवन और चिन्तन में दिखायी देता है। कठोपनिषद में नचिकेता की कथा बताती है कि स्वयं यम ही धर्मशिक्षा के श्रेष्ठतम गुरू हैं। यह देखा गया है कि मृत्यु से सामना होने के पश्चात कई बार व्यक्ति सत्य की तलाश की ओर मुड़ जाता है। कुछ ऐसा ही सम्भवतः एमर्सन के साथ हुआ। १८२६ में उन्होंने चर्च में पादरी की नौकरी शुरू की, परन्तु पत्नी की मृत्यु के बाद उनका चर्च एवं धर्म के संस्थागत स्वरूप के साथ पूरा मोहभंग हो गया। उन्होंने चर्च की नौकरी छोड़ दी, और स्वतन्त्र चिन्तक एवं वक्ता के रूप में जीवन–यापन का निर्णय लिया।

जो दिखता है, केवल उतना ही सत्य नहीं है। उसके परे भी कोई वृहत्तर सत्ता है जो इस प्रत्यक्ष जगत को संचालित करती है। इस पारलौकिक सत्ता से तादात्म्य और उससे अभिप्रेरित जीवन ही मूल रूप से एमर्सन की ट्रान्सेन्डेन्टलिजम है। १८३६ में छपे अत्यन्त चर्चित और प्रसिद्ध लेख 'नेचर' (छंजनतम) में एमर्सन ने इस सिद्धान्त की

विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। अगले वर्ष १८३७ में एमर्सन का एक और प्रसिद्ध लेख 'दि अमेरिकन स्कॉलर' प्रकाशित हुआ, जिसे अमेरिका की बौद्धिक स्वतन्त्रता का घोषणापत्र कहा जाता है।

एमर्सन ने अमेरिका के कोने कोने में कुल पन्द्रह सौ से अधिक व्याख्यान दिए, जिसमें उन्होंने धर्म, जीवन, समाज और व्यक्ति के जीवन–लक्ष्य को अपने तरीके से परिभाषित किया। इन्हीं व्याख्यानों पर आधारित उनके लेखों के दो संग्रह, 'एसेजः फर्स्ट सीरीज' और 'एसेजः सेकन्ड सीरीज' १८४१ और १८४४ में प्रकाशित हुए। एमर्सन के चिन्तन का निचोड़ हमे इन दोनों पुस्तकों से मिलता है।

१८३३में एमर्सन ने यूरोप और इंगलैण्ड का व्यापक भ्रमण किया। यहाँ उनकी मुलाकात अपने युग के श्रेष्ठ विचारकों जॉन स्टुअर्ट मिल और टॉमस कारलाइल से हुई। इंगलैण्ड में वे रोमान्टिक परम्परा के सुप्रसिद्ध कवियों विलियम वर्ड्सवर्थ तथा सैमुअल टेलर कॉलरिज से मिले। एमर्सन के चिन्तन पर इन महापुरुषों का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। इंगलैण्ड में उन्होंने यह भी देखा कि औद्योगीकरण के फलस्वरूप किस तरह से अमीरों और गरीबों के बीच की खाईं लगातार बढ़ती जा रही थी। इससे उन्हें अग्रेजी संस्कृति को समझने की एक नयी दिशा मिली।

अमेरिका वापस आने के बाद एमर्सन ने कॉकॉर्ड, मैसाचुसिट्स में बसने का निर्णय किया और लायसीयम सर्किट में नियमित रूप से अपना व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने 'ट्रान्सेन्डेन्टल क्लब' की स्थापना की, जिसके प्रमुख सदस्य थे – हेनरी डेविड थोरो, ब्रॉन्सन ऑल्कट, और जॉर्ज रिपली। इन लोगों ने 'द डायल' नाम की पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया, जिसे 'एक नयी चेतना का पत्र' की संज्ञा दी गयी।

एमर्सन के चिन्तन पर जर्मन विचारकों और भारतीय दर्शन, विशेषकर अद्वैत, की अमिट छाप दिखायी देती है। उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् और पुराणों का गहन अध्ययन किया, जिसका स्पष्ट प्रभाव उनकी कविताओं और लेखों में मिलता है। उदाहरण के लिए हम उनकी दो अतिप्रसिद्ध कविताओं, 'ब्रह्म' और 'हमत्रेय', के कुछ अंशों को देख सकते हैं। 'ब्रह्म' कविता का प्रथम पद है–

If the red slayer think he slays,
Or if the slain think he is slain,
They know not well the subtle ways
I keep, and pass, and turn again-

अब आप देखिए, कि किस तरह से यह पद गीता के इस श्लोक का अक्षरशः अनुवाद है–

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चौनं मन्यते हतम।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।। (२.१६)

अर्थात– जो इस आत्मा को मारने वाला या मरने वाला मानते हैं, वे दोनों ही नासमझ हैं, क्योंकि आत्मा न किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जा सकता है।इसी तरह से 'हमत्रेय' विष्णुपुराण की एक कथा की काव्यात्मक प्रस्तुति है। विष्णुपुराण की कथा में वर्णन है कि किस तरह से राजाओं को अभिमान हो जाता है कि वे पृथ्वी के स्वामी हैं। पृथ्वी को इन अल्पबुद्धि अज्ञानी राजाओं पर दया आती है और वह बताती है कि कैसे वह अनन्तकाल तक प्रतिष्ठित है, और इन राजाओं का अस्तित्व क्षणभंगुर है।

एमर्सन की परम तत्त्व के ज्ञान की पिपासा का प्रभाव अनेक अमेरिकन कवियों पर पड़ा जिन्हें उनका दिग्दर्शन प्राप्त हुआ था – इनमें प्रमुख थे, थोरो और वॉल्ट विटमन। आज भी विश्व के अनेक साहित्यकारों पर एमर्सन का प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। वृद्धावस्था में एमर्सन का स्वास्थ्य लगातार खराब होता गया, तथा १८८२ में उनका प्राणान्त हो गया।

10.5.2. एमर्सन : प्रमुख सिद्धान्त

इस भाग में हम एमर्सन के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को संक्षेप में समझेंगे।

1. पश्चिमी अद्वैतवाद

पश्चिमी अद्वैतवाद ईसाई धर्म का एक आध्यात्मिक आन्दोलन था जिसका दृढ़ विश्वास था कि ईश्वर एक है। यह आन्दोलन उस परम्पतागत त्रयी को नकारता था जिसके अनुसार ईश्वर को तीन शक्तियों दृ पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा दृ को समाहित करने वाली सत्ता माना गया था। पश्चिमी ईसाई सिद्धांतों को अस्वीकार करने वाले अद्वैतवादियों का मानना था कि ईसामसीह ईश्वर द्वारा प्रेरित एक मुक्तिदाता के रूप में एक श्रेष्ठ मानव थे न कि कोई ईश्वर के पुत्र। एमर्सन अद्वैतवादी थे और 1838 में उन्होंने अपना विख्यात "डिविनिटी स्कूल" अभिभाषण दिया था जिसमें उन्होंने व्यक्तिगत ईश्वर के सिद्धांत को नकारते हुए आधिकारिक चर्च को कड़ी फटकार लगाते हुए आरोप लगाया कि उसने खोखले आकारों और निर्जीव उपदेशों के माध्यम से मनुष्य की आत्मा का दम घोंट दिया है। शुरू में एमर्सन को परम्परावादियों की कड़ी आलोचना का शिकार होना पड़ा और लम्बे समय तक उनके विचार विवादित माने गए, लेकिन एक युवा पादरी थियोडोर पार्कर ने एमर्सन के विचारों का बड़े पैमाने पर प्रचार–प्रसार किया

और 1880 के दशक के आते–आते एमर्सन को औपचारिक रूप से एक अद्वैतवादी संत मान लिया गया था।

उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध भारतीय समाज–सुधारक राजा राममोहन राय भी पश्चिमी अद्वैतवाद से गहरे प्रभावित रहे थे।

2. ट्रान्सेन्डेन्टलिजम या अतीन्द्रियवाद

ट्रान्सेन्डेन्टलिजम या अतीन्द्रियवाद एक दार्शनिक आन्दोलन था जो कि अद्वैतवाद की एक तार्किक परिणति के रूप में प्रारम्भ हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में अमेरिका में उभरा ट्रान्सेन्डेन्टलिजम मनुष्य और प्रकृति के मूलभूत शुभत्व पर विश्वास करता था और व्यक्तिगत अनुभव, अन्तर्चेतना एवं व्यक्ति की सत्ता पर केन्द्रित था। इसे माननेवालों का मत था कि समाज और उसके द्वारा निर्मित संस्थाओं ने व्यक्ति की नैसर्गिक पवित्रता को भ्रष्ट कर दिया है। ट्रान्सेन्डेन्टलिजम का गहरा विश्वास था कि मनुष्य अपना श्रेष्ठतम देने की अवस्था में तब होता है जब वह आत्म–निर्भर और स्वाधीन हो।

अतीन्द्रियवादियों ने तत्कालीन अमेरिकी समाज में दोहरी भूमिका निभाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उनके लक्ष्य थेरू अमेरिका के स्वतंत्र साहित्य का विकास करना और आध्यात्म और धर्म को नए सिरे से परिभाषित करना। राल्फ वाल्डो एमर्सन अतीन्द्रियवादियों में एक थे और उन्होंने कहा था दृ "हम अपने पैरों पर चलेंगेय हम अपने हाथों से काम करेंगेय हम अपने मन से बोलेंगे ... पहली बार मनुष्यों का राष्ट्र अस्तित्व में आएगा क्योंकि हर किसी को विश्वास है कि उसे उसी पवित्र आत्मा ने प्रेरित किया है जो हरेक मनुष्य को प्रेरित करती है।" अधिकाँश अतीन्द्रियवादियों ने सामाजिक उद्धार के तत्कालीन आन्दोलनों दृ जैसे दास–प्रथा उन्मूलन और महिलाधिकार आन्दोलन दृ में भी हिस्सा लिया।

3. परात्पर आत्मा

एमर्सन ने 1941 में अपने निबन्धों के संकलन "एसेज" के नवें निबन्ध को शीर्षक दिया था "ओवरसोल"। इसे एमर्सन की आध्यात्मिक और विचारधारा का सबसे विश्वसनीय स्रोत माना जाता है। इस निबन्ध में उन्होंने एक ऐसे ईश्वर पर अपनी आस्था व्यक्त की है जो हम सभी के भीतर निवास करता है और जिसके साथ हम सम्वाद कर सकते हैं। इस सम्वाद के लिए हमें किसी धर्म की आधिकारिक सदस्यता की या धर्माधिकारी की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस निबन्ध में मनुष्य और उसकी आत्मा के विषय के कुछ मूलभूत आयामों पर चर्चा की गयी है। एमर्सन का मानना है कि मनुष्य की आत्मा अमर, विराट और अतीव सुन्दर होती है, और हमारा सचेतन अस्तित्व उसकी

तुलना में बहुत सीमित होता है, जबकि हम आदतन अपने अहम् को अपना वास्तविक अस्तित्व समझ बैठने की गलती करते हैं। वे बताते हैं कि सभी लोगों की आत्माएं एक दूसरे से सम्बद्ध होती हैं।

एमर्सन एक ऐसी पवित्र आत्मा की परिकल्पना करते हैं जो समूचे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और सभी मानवीय आत्माओं को अपने भीतर समाहित किये हुए है। इसी को एमर्सन परात्पर आत्मा (ओवरसोल) का नाम देते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यह परात्पर आत्मा मानव अस्तित्व की सर्वश्रेष्ठ भूमि है और सभी जीवों की आध्यात्मिक एकता भी। परात्पर आत्मा का यह सिद्धान्त अतीन्द्रियवाद के प्रमुख सैद्धान्तिक आधारों में गिना जाता है, जिसका सार है कि ईश्वर एक है और वह सभी मनुष्यों को एक सूत्र में जोड़ने का काम करता है। इसे भारतीय दर्शन के ब्रह्म के समीप भी देखा जा सकता है, जो ब्रह्माण्ड की सर्वोच्च शक्तिरूपी आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है।

4. आत्म–निर्भरता

एमर्सन ने अपने निबंध "आत्म–निर्भरता" में बताया है कि भद्र समाज मनुष्य के व्यक्तिगत विकास में बाधक बनता है। उनका कथन है कि आत्म–निर्भरता मनुष्य को अपने वास्तविक अस्तित्व की खोज करने की स्वतन्त्रता प्रदान करती है और उसके माध्यम से वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अवसर भी देती है। एमर्सन अपने पाठकों से आग्रह करते हैं कि उन्हें सामाजिक अपेक्षाओं के बजाय अपनी व्यक्तिगत इच्छाशक्ति का अनुसरण करना चाहिए। वे जोर देकर कहते हैं कि मनुष्य को चर्च या ऐसे ही किसी अन्य माध्यम के स्थान पर स्वयं अपनी आवाज का अनुसरण करना चाहिए। वे दूसरों के साथ बनाए गए अपने सम्बन्धों के प्रति ईमानदार बने रहने पर भी बल देते हैं।

एमर्सन मानते हैं कि आत्म निर्भरता को हासिल करने के लिए मनुष्य को अपने धार्मिक आचरण में बदलाव लाने की आवश्यकता है। अपने अमेरिकी समाज से उनका आग्रह है कि वे अपने घरों में रहकर अपनी संस्कृति को विकसित करने का प्रयास करें और सामाजिक उन्नति के स्थान पर व्यक्तिगत उन्नति पर अधिक ध्यान केन्द्रित करें।

5. लायसीयम आन्दोलन

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अमेरिकी शिक्षा व्यवस्था के पुनर्निर्माण का समय था। इस पुनर्निर्माण में लायसीयम आन्दोलन ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस आन्दोलन का नामकरण प्राचीन यूनान के एथेंस के सार्वजनिक विद्यालय लायसीयम के नाम पर किया गया था जहां दार्शनिक अरस्तू खुले में विचारों के परिसम्वाद आयोजित किया करते थे। लायसीयम आन्दोलन वयस्क शिक्षा के क्षेत्र में किया गया एक अभिनव प्रयोग था जिसने 1830 से लेकर अमेरिकी गृहयुद्ध के अन्तराल में महत्वपूर्ण सामाजिक प्रभाव डाला। संसार के बारे में और अधिक जानने की अमेरिकी नागरिकों की उत्कट

इच्छा ने इस आन्दोलन के लिए ईंधन का कार्य किया और इस समय में अमेरिका में गम्भीर सामाजिक बदलाव आये। अमेरिका भर में जगह–जगह लायसीयम सोसाइटियों का गठन किया गया जहाँ जा कर इस आन्दोलन से सम्बद्ध वक्ता व्याख्यान दिया करते थे। इस शैक्षणिक आन्दोलन से जुड़ने वाले महत्वपूर्ण लोगों में राल्फ वाल्डो एमर्सन, फ्रेडरिक डगलस, हेनरी डेविड थोरो और सूजन बी. एंथनी प्रमुख थे। 1861 में हुए गृहयुद्ध के पश्चात इस आन्दोलन की गति धीमी पड़ गयी लेकिन तब तक यह अपना कार्य कर चुका था। नए विचारों और नई सूचनाओं के प्रसार–प्रचार को समर्पित यह आन्दोलन लोगों को एक महत्तर उद्देश्य के लिए साथ लाने का एक बेहतरीन माध्यम था।

10.6 सारांशः

इस इकाई मे आपने तीन महापुरूषों (संत फ्रान्सिस, डा. मार्टिन लूथर किंग जूनियर एवं रैल्फ वॉल्डो एमर्सन) की जीवनी पढ़ी। आपने देखा कि किस प्रकार इन महापुरूषों ने अपने जीवन एवं विचारों के माध्यम से मानव सभ्यता के लिए अभूतपूर्व मापदण्डों को तय किया। जहाँ संत फ्रॉंसिस ने अपनी दरियादिली एवं तप (Austerity) द्वारा हमें पाठ पढ़ाए, वही डॉ. मार्टिन लूथर किंग ने नसलीय भेदभाव की समाप्ति के लिए जो बीड़ा उठाया, वह मानव जीवन के लिए सदैव ही अनुकरणीय रहेगा। हमारी कड़ी के तीसरे महापुरूष, एमर्सन को अतीन्द्रियवाद(Transcendentalism) के क्षेत्र में एक पथ–प्रदर्शक माना जाता है। आपने इस इकाई के माध्यम से देखा कि किस प्रकार अपने अभूतपूर्व दृष्टिकोण के तहत एमर्सन ने दर्शनशास्त्र एवं साहित्य में नये मापदण्ड तय किये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. संत फ्रॉंसिस

(i) फ्रान्सिस के पिता का निम्न मे से कौन सा व्यवसाय था ?

(a) व्यापार (b) सेना

(c) असीसी मंत्रालय मे मंत्री (d) अध्यापन

(ii) फ्रॉंसिस ने युदृथ अपनी कायरता के कारण छोड़ा । **सत्य / असत्य**

(iii) फ्रॉंसिस कुष्ट रोगियों से घृणा करते थे । **सत्य / असत्य**

(iv) रोमन कैथलिक सम्प्रदाय की ईंजालिक आधारशिलाएँ ब्रह्मचर्य, आज्ञाकारिता एवं.... ....हैं।

(v)फ्रॉंसिस ने ओीसीसी के किस गिरिजाघर की मरम्मत का बीड़ा उठाया ?

10.7 उत्तर :

(i) व्यापार

(ii) असत्य
(iii) असत्य
(iv) निर्धनता
(v) सैन डेमियानो

2. <u>मार्टिंन लूथर किंग जूनियर</u>

(i) जिस अश्वेत महिला ने एक श्वेत यात्री के लिए बस में अपनी कुर्सी नहीं त्यागी, उसका नाम बताएँ ?

(ii) मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने निम्नलिखित में से किन के अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ी ?
(a) सैनिकों (b) जानवरों
(c) अश्वेत नागरिकों (d) उपर्युक्त में से कोई नहीं

(iii) मार्टिंन लूथर किंग जूनियर महात्मा गाँधी के अहिन्सा के सिद्धान्त से प्रभावित थे ।
सत्य / असत्य

(iv) ''मेरा एक स्वप्न'' नामक उद्बोधन अब्राहम लिंकन द्वारा दिया गया था।
सत्य / असत्य
(v) मार्टिन लूथर किंग जूनियर की हत्या किस ने की?

उत्तरः

(i) रोज़ा पार्क्स
(ii) (c) अश्वेत नागरिकों
(iii) सत्य
(iv) असत्य
(v) जेम्ज़ एर्ल रे

3. <u>रैल्फ वॉल्डों एमरसन</u>

(i) रैल्फ वॉल्डों एमरसन को किसकी संज्ञा से नवाज़ा गया है ?

(ii) एमरसन ने अपनी आजीविका की शुरूवात निम्न में से किस पेशे से की ?
(a) डाक्टर (b) पादरी
(c) खिलाड़ी (d) उपर्युक्त में से कोई नहीं

(ii) एमरसन के ....नामक उदबोधन को अमरीका के बौद्धिक स्वंतत्रता का घोषण पत्र कहा गया है ?

(iii) एमरसन को अतीन्द्रियवाद(Transcendentalism) का जनक कहा गया जाता है।
सत्य / असत्य

उत्तरः

(i) कॉकॉर्ड का ऋषि
(ii) पादरी
(iii) ''द अमेरिकन स्कॉलर''
(iv) सत्य
(v) असत्य

10.8 संदर्भग्रन्थ

Bommarito, Andrew Grey, O'Brien, Ralph. Ed. *Prentice Hall Literature: The American Experience.* New Jersey: Prentice Hall, 1991. Print.

Assisi. http://enwikipedia.org/wiki/Fransis_of_Assisi. Web.
______ . http://newworldenclycopedia.org/entry/Francis_of_Assisi. Web.
Emerson. http://en.wikipedia.org/wiki/Ralph_Waldo_Emerson. Web.

King. http://en.wikipedia.org/wiki/Martin_Luther_King,_Jr. Web.
______. www.nobelprize.org/.../peace/laureates/1964/**king**-bio.html. Web.

इकाई 11— रूमी, कबीर, रैदास एंव नानक

इकाई की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 मानव मूल्य और महापुरूष
11.3.1 मानव मूल्य की अवधारणा
11.3.2 मानव मूल्य और महापुरूष
11.4 रूमी
11.4.1 जीवन परिचय
11.4.2 रूमी के साहित्य की अन्तर्वस्तु
11.4.2 रूमी साहित्य का प्रदेय
11.5 कबीर
11.5.1 जीवन परिचय
11.5.2 कबीर के साहित्य की अन्तर्वस्तु
11.5.3 कबीर साहित्य का प्रदेय
11.6 रैदास
11.6.1 जीवन परिचय
11.6.2 रैदास के साहित्य की अन्तर्वस्तु
11.6.3 रैदास साहित्य का प्रदेय
11.7 नानक
11.7.1 जीवन परिचय
11.7.2 नानक के साहित्य की अन्तर्वस्तु
11.7.3 नानक साहित्य का प्रदेय
11.8 मानव मूल्य और संत काव्य परम्परा
11.9 सारांश
11.10 शब्दावली
11.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
11.13 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

11.1 प्रस्तावना

आपने पूर्व की इकाइयों में मानव मूल्य और आचार का विशद अध्ययन किया। आपने पढ़ा कि मानव मूल्य के प्रमुख घटक कौन से हैं? मानव मूल्य के आधारभूत बिन्दु क्या हैं? आपने भारतीय एंव पाश्चात्य जीवन मूल्यों का भी अध्ययन किया। यह खण्ड महापुरूषों के सन्दर्भ में जीवन मूल्यों से जुड़ा हुआ है। मानव मूल्य वैसे तो 'सांस्कृतिक–पद' है, किन्तु इसका धारण महापुरूषों द्वारा होता रहा है। मानव मूल्य एक बड़ा सांस्कृतिक पद है, जिसमें मानवीय सभ्यता और संस्कृति के आधारभूत विचार और जीवन शैली समाहित होती है। इस दृष्टि से मानव मूल्य की धारा किसी महापुरूष से होती हुई उस समाज–क्षेत्र–राष्ट्र या मानवता के भीतर आन्तरिक चेतना के रूप में समाहित हो जाती है। इस इकाई में हम मानव–मूल्यों के सन्दर्भ में रूमी, कबीर, रैदास एंव नानक जैसे महापुरूषों का जीवन वृत्तान्त एवं सृजन कार्य का अध्ययन करेंगे।

मानव मूल्यों के सन्दर्भ में संत काव्य परम्परा का विशिष्ट योगदान रहा है। इसका कारण यह है कि संत काव्य में आचरण की पवित्रता, सदाचार, परोपकार, करूणा–प्रेम तथा मानवता आधार रूप में रहे हैं। मानव मूल्य का सीधा सम्बन्ध आचरण और व्यक्तित्व की उच्चता से है। इस सम्बन्ध में संत काव्य हमारे लिए आधार स्रोत का काम करता है । आलोच्य इकाई में संत काव्य परम्परा की सापेक्षता में मानव मूल्यं का अध्ययन किया जा रहा है।

11.2 उद्देश्य

"मानव मूल्य और आचारशास्त्र" शीर्षक आधारभूत पाठ्यक्रम का यह चौथा खण्ड है। यह खण्ड भारतीय एवं पाश्चात्य जगत के प्रमुख महापुरूषों पर आधारित है। मानव मूल्य का एक बड़ा आधार महापुरूषों के वचन और उनकी जीवनी होती हैं। इस दृष्टि से हम इस खण्ड में प्रमुख महापुरूषों के आलोक में जीवन मूल्यों की समझ विकसित करेंगे।

प्रमुख महापुरूषों पर केन्द्रित इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- मानव मूल्य के व्यावहारिक उपक्रम को जान पायेंगे।
- मानव मूल्य की व्यावहारिक प्रक्रिया एवं उदाहरण को समझ सकेंगे।
- रूमी, कबीर, रैदास एवं नानक जैसे संत कवियों लेखकों का जीवन परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- रूमी, कबीर, रैदास एवं नानक के साहित्य को जान सकेंगे।
- महापुरूषों एंव कवि लेखक के सन्दर्भ मे मानव मूल्यों को देख सकेंगे।
- सिद्धान्त और व्यवहार के अन्तर्सम्बन्ध को समझ सकेंगे।

11.3 मानव मूल्य और महापुरूष

11.3.1 मानव मूल्य की अवधारणा

मानव मूल्य पद में दो शब्द हैं। 'मानव' शब्द अपनें आप में स्वभाव, प्रकृति, गुण यानी व्यक्ति–सापेक्षता का सूचक है तो 'मूल्य' अपने आप में परोपकार, परहित, सहजीविता, सामूहिकता, उर्ध्वगमन, उत्कर्ष, प्रेम–करूणा आदि का सूचक। इस दृष्टि से 'मानव–मूल्य' का अर्थ "'व्यक्ति की प्रकृति' का 'सामाजिक प्रकृति' तक जाना" या "'व्यक्ति प्रकृति' का 'सामाजिक प्रकृति' में रूपान्तरण" से है ।

मानव मूल्य के सम्बन्ध में प्रायः भ्रम की स्थिति बनी हुई है। कुछ लोग मानव–प्रकृति को ही 'मानव–मूल्य' समझ लेते हैं। प्रसन्नता, मौन, दया की भावना, बर्हिमुखता, मेल–जोल आदि मनुष्य का स्वभाव है, उसका गुण है; मूल्य नहीं। स्मरण रहे कि जब तक मानव प्रकृति उर्ध्वगामी होकर 'सामूहिक क्रियाशीलता' का रूप ग्रहण नहीं कर लेती, तब तक वह मानव–मूल्य नहीं बनती। प्रेम मानव के होने का प्राथमिक मनोभाव है। किन्तु जब तक वह 'रति' रूप में रहता है, तब तक वह मानव प्रकृति है, किन्तु जब वह 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की व्यापक मानवतावादी भूमि पर आरूढ़ होता है, तब वह 'प्रेम' बन जाता है। जैसे वीरता जब तक शौर्यप्रदर्शन तक सीमित है, तब तक वह व्यक्तिगत गुण है, किन्तु जब उसमें समाज, राष्ट्र के हित की भावना जुड़ जाती है; तब वह 'मूल्य' बन जाता है। जब कोई व्यक्ति अपने पराक्रम का प्रदर्शन, अपना बल प्रदर्शित करने के लिए करता है, तब तक उसकी वीरता 'व्यक्तिगत' है; किन्तु जब वह वीरता 'राष्ट्रीयता के वृत्त' से आच्छादित हो जाती है, तब वह 'मूल्य' बन जाती है। इस प्रकार 'मानव मूल्य' में स्पष्टतः दो चीजें प्रमुख हैं। एक, उसकी सार्वभौमिकता की भावना और दूसरे, मानव जीवन को उत्कर्ष प्रदान करनें की भावना। सत्य, करूणा, प्रेम, धर्म, परोपकार जब सामाजिक वृत्त से आच्छादित होकर सामूहिक क्रियाशीलता का रूप ले लेते हैं, तब 'मानव मूल्यों' की उत्पत्ति होती है। आपने पिछली इकाइयों में मानव मूल्य की सैद्धान्तिक एंव व्यावहारिक स्थितियों से परिचय प्राप्त किया। इस इकाई में हम प्रमुख संत कवियों के आलोक में मानव मूल्य का अध्ययन करेंगे।

11.3.2 मानव मूल्य और महापुरूष

छात्रों ! आप महापुरूषों की जीवनियाँ पढ़ते रहते हैं। उन जीवनियों को पढ़ते हुए आपने महापुरूषों के उच्च विचार, आदर्श, उनके रहन–सहन, उनका जीवन–संघर्ष, उनकी सृजनात्मकता इत्यादि को पढ़ा होगा। क्या कभी आपने सोचा कि महापुरूषों के गठन में किस तत्व की सर्वाधिक प्रभावी भूमिका होती है? क्या महापुरूष जन्मजात प्रतिभा के धनी होते हैं? क्या महापुरूषों के गठन में उनके समाज की भूमिका प्रभावी होती है? आपके मन में यह प्रश्न भी उठा होगा कि महापुरूष और मानव मूल्य का क्या

अंतर्सम्बन्ध है? यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि एक रचनाकार अपनी कृतियों के माध्यम से मानवमूल्य की अभिव्यक्ति किस प्रकार करता है? एक सन्त जब लेखक भी होता है, तो उसकी कृतियाँ किस प्रकार की होती हैं? इन प्रश्नों पर आपको नए ढंग से विचार करना चाहिए।

आपने यह पंक्ति तो पढ़ी और सुनी ही है– 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' । अर्थात् महाजन (श्रेष्ठ् व्यक्ति) जिस पथ/रास्ते से चले हैं; वह पथ ही श्रेष्ठ है, अनुकरणीय है। यह उक्ति इस बात का संकेत है कि हम महापुरूष के जीवन, आदर्शो–कृत्यों को कितना महत्व देते हैं। किन्तु इस उक्ति की व्यंजना को भी समझने की आवश्यकता है। हर महापुरूष का पथ/रास्ता वह नहीं होता, जो उसके पूर्व के या समकालीन महापुरूषों का होता है। प्रत्येक क्षेत्र का बड़ा व्यक्ति किसी नए मार्ग का अन्वेषक, खोजकर्ता होता है। उसका यह मार्ग पुराने पथ का न तो विलोम होता है और न अनुलोम। वह पूर्व की मान्यताओं पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए, कहीं उनसे ग्रहण करते हुए, कहीं उनसे मुठभेड़ करते हुए एक नये मार्ग की खोज करता है। उसका यह मार्ग एक नये प्रकार के सत्य को धारण किये हुए होता है, इसलिए वह हमारे लिए महत्वपूर्ण होता है। 'रामचरित मानस' में तुलसीदास ने राम, सीता तथा लक्ष्मण के वनगमन दृश्य में एक रूपक खींचा है, जो हमारे लिए महत्वपूर्ण है। राम के चरण चिन्ह पर सीता के चरण न पड़ें, इसलिए वह दूसरी तरफ अपना पैर रख रही हैं। लक्ष्मण इन दोनों के चरण चिन्हों को बचाते हुए अपने पैर रख रहे हैं। आप चाहें तो इसे 'श्रद्धा' का नाम दे सकते हैं। श्रेष्ठ व्यक्तियों का अनुसरण कह सकते हैं, किन्तु वास्तविक रूप में इसकी व्यंजना यही है कि हर महत्वपूर्ण व्यक्ति के 'सृजन–कर्म' (चरण चिन्ह) पूर्व के 'सृजन–कर्मों' से भिन्न होते हैं। एक तरफ से वह पारम्परिक जीवनमूल्यों में विश्वास भी रखता है, तथा दूसरी ओर वह नये जीवन मूल्यों का निर्माण भी करता है।

महापुरूष अपने युग की सम्भावना के निचोड़ होते हैं। हर युग अपने लिए एक सम्भावना लेकर आता है। नए युग की समस्याएं, आवश्यकतायें वही नहीं रहतीं, जो पूर्व युग में थी। युगानुरूप अनकी संरचना में बदलाव उपस्थित हो जाता है। युगानुरूप इस बदलाव की पूर्ति महापुरूषों के माध्यम से होती है। इस प्रकार महापुरूष 'सामाजिक आकांक्षा की पूर्तिकर्ता' के रूप में हमारे सामने आता है। अतः मूलरूप से महापुरूषों के अवतरण में 'सामाजिक माँग' या 'सामाजिक आवश्यकता' का दबाव कार्य किया करता है। इनकी प्रतिभा जन्मजात तो होती है, किन्तु वह अपने युग–समाज के कारक तत्वों से अनुयोजित भी होती है। विवेकानन्द के समय का सांस्कृतिक दबाव किस प्रकार राष्ट्रीय–सामाजिक बनकर गांधी, अरविन्द में रूपान्तरित हो जाता है, इस तथ्य से हम परिचित ही हैं। मानव मूल्यों के सन्दर्भ में यह बात भी महत्वपूर्ण है कि यह बड़े क्षेत्र या बड़ी परिधि तक फैला हुआ है। हमारे सामने यह प्रश्न भी खड़ा होता रहता है कि हम मानव मूल्य की परिधि में किसे शामिल करें? क्या एक वैज्ञानिक के अन्वेपषण, खोज का

सम्बन्ध मानव कल्याण से नहीं है? अपनी वैज्ञानिक खोज के माध्यम से एक वैज्ञानिक मानव जीवन को सरल, सुगम बना देता है। उसकी खोज मानव जाति व सभ्यता के विकास में युगान्तकारी हो जाती है। हाँ, यह हो सकता है कि ऐसा व्यक्तित्व प्रत्यक्ष में शुष्कर हो, अव्यावहारिक हो, किन्तु उसका अन्वेषण मानव जाति के लिए लाभप्रद हो सकता है (होता है); ऐसी स्थिति में वह भी मानव–मूल्यों को ही धारण करता है।

11.4 रूमी

11.4.1 जीवन परिचय

जलालुद्दीन रूमी फारसी साहित्य के प्रमुख कवि एवं संत थे । ये मूल रूप से अफगानिस्तान के थे, किन्तु इनके जीवन का अधिकांश समय मध्य तुर्को के सल्जूक दरबार में बीता। आपका जन्म फारस देश के बाल्ख़ नगर में सन् 604 हिजरी (30सितम्बर, 1207 ई.) में हुआ था। रूमी के पिता शेख बहाउद्दीन फारस के ख्यातिलब्ध विद्वान थे। तत्कालीन सम्राट से मतभेद होने के कारण उनके पिता को बाल्ख़ नगर छोड़ना पड़ा। बाल्ख़ छोड़ने के पश्चात रूमी अपने पिता के साथ अनेक स्थानों पर भ्रमण करते रहे। इस दौरान आपने प्रमुख रूप से बगदाद, हजाज़ और लाइन्दा की यात्राएँ कीं। आपका विवाह 18 वर्ष की उम्र में हुआ। इस बीच रूमी के पिता को वापस राजदरबार में बुला लिया गया। 624 हिजरी में रूमी क्रौनिया गए। इसके चार वर्ष के पश्चात आपके पिता की मृत्यु हो गई।

रूमी की प्रारम्भिक शिक्षा स्वाध्याय एवं लोक जीवन के अनुभवों से हुई। प्रारम्भिक समय में रूमी ने सैयद बरहानउद्दीन से शिक्षा ग्रहण की। ततपश्चात आपने दमिश्क और हलब के विद्यालयों में 15 वर्षो तक शिक्षा ग्रहण की। 40 वर्ष की उम्र तक रूमी की ख्याति, विद्वता दूर–दूर तक फैल चुकी थी। इस बीच रूमी की मुलाकात शम्स तबरेज़ से हुई। शम्स तबरेज़ ने रूमी को अध्यात्म विद्या की शिक्षा दी। इस प्रभाव के कारण रूमी अध्यात्म चिन्तन और साधना में डूब गये। रूमी के भक्तों ने इस परिवर्तन को नकारात्माक रूप में लिया तथा उन्होंने रूमी के छोटे बेटे इलाउद्दीन मुहम्मद के सहयोग से शम्स तबरेज़ की हत्या कर दी। इस घटना ने रूमी को संसार से विरक्त कर दिया। अपने प्रिय शिष्य मौलाना हसामाउद्दीन चिश्ती के आग्रह पर रूमी ने 'मसनवी' की रचना प्रारम्भ की। आपकी मसनवियाँ ईश्विर भक्ति और प्रेम के रंग में डूबी हुई है।

रूमी के साहित्य व वचनों पर उनके पारिवारिक वातावरण एवं पिता का बहुत प्रभाव पड़ा है। पिता के व्यक्तित्व और ज्ञान का सहज प्रभाव बालक रूमी पर पड़ा था। पिता के वचनों, उनकी मित्रमण्ड्ली और आस–पास के वातावरण से रूमी स्वाभाविक रूप से बौद्धिक चर्चा की और आकृष्ट हुए। फारस और तुर्क प्रदेश के लिए वह समय संक्रान्ति का था। ऐसी स्थिति में रूमी के विचारों व उनके उपदेशों ने आम जन को

बहुत प्रभावित किया। आध्यात्मिक गुरू शम्स तबरेज़ की हत्या की खबर से वह इतने विचलित हुए कि वे सांसारिक जीवन से वीतरागी हो गये। इस घटना के प्रभावस्वरूप कुछ समय पश्चात आप अस्वस्थ हो गये। 68 वर्ष की उम्र में 672 हिजरी में आपका देहान्त हो गया।

रूमी सर्वात्मवाद के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। वे 'सर्वधर्म एकता' के अनुयायी थे। उनके अनुयायियों में इसीलिए सभी धर्म व सम्प्रदाय के लोग थे। रचनाकार के रूप में रूमी 'मसनवी परम्परा' के महत्वपूर्ण रचनाकार थे। इन्होनें सूफी परम्परा के नर्तक साधुओं (गिर्दानी) की परम्परा का विकास किया। वस्तुतः रूमी एक 'सूफी' संत थे। उन्हें केवल लेखक, विद्वान के रूप में समझना उन्हें कमतर करके समझना–जानना है। जैसा कि आपने पढ़ा कि रूमी अपने जीवन में शिक्षक, वचनकर्ता एवं न्यायाधीश थे। उनके आध्यात्मिक होने की एक छोटी सी कथा है। एक बार रूमी कोई किताब पढ़ रहे थे। तभी वहां शम्स तबरेज़ आये। शम्स तबरेज़ ने रूमी से पूछा कि आप क्या कर रहे हैं? रूमी को यह प्रश्न अटपटा लगा। उन्होनें शम्स तबरेज़ को अनपढ़–मूर्ख समझते हुए व्यंग्य से कहा– 'मैं जो कर रहा हूँ, आप नहीं समझ पायेंगे।' इतना सुनते ही शम्स तबरेज़ ने रूमी की लिखी किताबों को तालाब में फेंक दिया। रूमी ने जब उन किताबों को तालाब से निकाला तो वे सूखी थीं। रूमी के यह पूछने पर के 'यह क्या है?' शम्स तबरेज़ ने कहा कि 'इसे आप नहीं समझ पायेंगे'। इस घटना के पश्चात रूमी सन्यासी बन गये। रूमी ने बाकी का जीवन ईश्वर प्रेम और मनुष्य प्रेम के प्रचार में लगाया। इस प्रकार रूमी का जीवन हमें अनासक्त जीवन की ओर उन्मुख करता है।

11.4.2 रूमी के सहित्य की अन्तर्वस्तु

रूमी को अतिवादी या कभी–कभी तो पागल भी कहा गया। अपने समय से आगे चलने वाला व्यक्तित्व प्रायः अपने समय में नासमझी का शिकार हो जाता है। ऐसा नहीं है कि रूमी अपने समय में लोकप्रिय नहीं थे, किन्तु अनकी शिक्षाओं की गहनता क्रमशः आगे आने वाले समय में प्रासंगिक होती गई। रूमी का साहित्य ईश्वर और मनुष्य की एकात्मकता का प्रतीक है। एक कविता में वह कहते हैं–

जैसे ही मैंने अपनी पहली प्रेम कहानी सुनी
मैने तुम्हें ढूंढना शुरू कर दिया
बिना यह जाने कि वह खोज कितनी अंधी थी।
प्रेमियों का कहीं मिलन नहीं होता
वे तो एक–दूसरे के भीतर होते हैं।
आपका काम प्रेम को खोजना नहीं है
आपका काम है अपने भीतर की उन तमाम रूकावटों का पता लगाना
जो आपने इसके रास्ते में खड़ी कर रखी हैं।

अपनी चतुराई को बेच दो और हैरानी खरीद लो।
सुरक्षा को भूल जाओ,
वहाँ रहो, जहाँ रहने में आपको डर लगता है।
अपनी प्रतिष्ठा को मिटा दो, बदनाम हो जाओ।
दूसरों के साथ क्या हुआ
इन कहानियों से सन्तुष्ट मत हो जाओ।
अपने भ्रम को खुद ही दूर करो।
मौन ही ईश्वर की भाषा है,
बाकी सब तो उसका एक बेकार सा अनुवाद है।
आपका जन्म पंखों के साथ हुआ है, फिर जीवन भर रेंगने की क्या जरूरत है।
खटखटाओ और वह दरवाजा खोल देगा,
मिट जाओ, वह आपको इतना चमकदार बना देगा जैसे सूर्य,
गिर जाओ, वह आपको स्वर्ग तक उठा देगा
तुच्छ हो जाओ, वह आपको सब कुछ बना देगा।
आप समंदर में एक बूंद की तरह नहीं हो,
आप तो एक बूंद में पूरे समंदर हो।

कविता से स्पष्ट है कि रूमी ईश्वर और मनुष्य की एकता, छोटे–छोटे लक्ष्यों को छोड़कर बड़े लक्ष्य की ओर बढ़ाने वाले तथा आत्मिक उन्नति के साधक थे। रूमी के व्यक्तित्व को समझने के लिए यहाँ उनकी कुछ पंक्तियाँ दी जा रही है –

अहंकार मनुष्य और प्रभु के बीच में सबसे बड़ा और सघन पर्दा है।
तुम जिसे ढूंढ रहे हो, वह तुम्हें ढूंढ़ रहा है।
बंद हो अगर दोस्त का दरवजा तो वापस चले मत जाना,
क्योंकि वह दोस्त जानता है कई रहस्य वाले रास्तों को
जिस पर चल कर तुम उस तक पहुंच सकते हो।
तुम पंखों के साथ जन्मे हो फिर भी जमीन पर रेंगना क्यों पसंद करते हो।

हर व्यक्ति किसी खास काम के लिए बनाया गया है
और उस काम की इच्छा' उसके मन में रख दी गयी है ।

तुम्हारा काम प्यार को खोजना नहीं है,
बल्कि केवल उन बाधाओं को ढूंढना है
जो की तुमने ही, अपने मन में, उसके विरोध में बना रखी हैं।
हम सभी प्रेम से उत्पन्न हुए हैं। प्रेम ही हम सबकी माँ है।

ईश्वर द्वारा जो भी सुन्दर, अच्छा और प्यारा बनाया गया है,
वह केवल उसी के लिए है, जो इन्हें देखता है।
खूबसूरती हमारे चारो तरफ है,
लेकिन आमतौर पर हमें उसे देखने के लिए बगीचे में जाना पड़ता है।
तुम्हारी उदासी और निराशा का सम्बन्ध
तुम्हारी निर्लज्जता और ईश्वर की महत्ता का इन्कार करने से है।
दुखी मत हो, जो भी तुमने खोया है,
वह लौटकर तुम्हारे पास आ जायेगा, किसी दूसरे रूप में।

ऐसे ढेरों कथन हैं, जो रूमी के व्यक्तित्व और साहित्य को हमारे सामने रख देते हैं। रूमी के कथनों मे कोई उलझाव नहीं है, वह सीधे–सीधे, सरलता–साफगोई के साथ अपनी बात रखते हैं। उनके कथन हमारें भीतर 'प्रेम और आस्था' का निर्माण करते हैं।

रूमी की 'मसनवी' और 'दीवान ए शम्स तबरेज़' उनकी प्रसिद्ध कृतियॉ हैं । रूमी की शायरी इतनी तत्वदर्शी और सरल है कि यह सहज ही हमारे दिल में उतर जाती है। कविताओं के अतिरिक्त रूमी ने छोटी–छोटी शिक्षाप्रद कहानियाँ भी लिखी हैं, जो नैतिक जीवन–मूल्यों का निर्माण करती हैं। इन कहानियों में एक संदेश है। किसी विचार को, जीवन मूल्य को प्रदर्शित करने के लिए इन कहानियों का निर्माण किया गया है। तीन नसीहत, दोस्ती, हकीम और बूढ़ा आदमी, सब से बड़ा पहलवान जैसी ढेरों कहानियॉ हैं, जिनके माध्यम से रूमी जीवन मूल्य का निर्माण करते हैं।

11.4.3 रूमी साहित्य का प्रदेय

रूमी की कविता "मध्यकालीन संक्रंमण के बीच प्रेम और आस्था के प्रकाश का वितान" रचती है। आज रूमी की लोकप्रियता यूरोप समेत सम्पूर्ण विश्व में तेजी से फैल रही है। रूमी की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण यह भी है कि उनकी कविता पर सभी संस्कृतियों का प्रभाव दिखता है। इस प्रकार उनकी कविता किसी एक भाषा, संस्कृति, धर्म से परे चली जाती है और एक "मानव संस्कृति का प्रतिरूप" बन जाती है। रूमी की कविता में प्रेम का तत्व इतना गहन है कि वह संगीत की लयात्मकता से सहज ही आबद्व हो जाती है। उनकी कविता की लोकप्रियता का एकमात्र कारण उसका संगीतात्मक रूप भी है। उनके जीवनीकार गूच ने उन्हें 'प्रेम और उल्लास के कवि' के रूप में स्मरण किया है। रूमी की कविता सहज जीवनबोध–दर्शन से युक्त है। वह जीवन के गूढ़ प्रश्नों को बहुत ही सहजता से बयान करती है। इसलिए वह आम पाठकों के लिए भी सहज ही बोधगम्य बन जाती है। कविता का पाठक से सीधा साक्षात्कार करना, ज्ञान देना, कल्पनाशीलता का निर्माण करना तथा विरह को उत्सव का रूप देना यानी "जीवन की तिक्तता के बीच जीवन की गत्यात्मकता की खोज" रूमी की कविता का प्रधान आकर्षण है ।

अभ्यास प्रश्न 1

(क) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए ।

1. तीन नसीहत रूमी की...है। (मसनवी / कहानी / ग़ज़ल)
2. रूमी..साहित्य के प्रमुख कवि थे। (फारसी / चीनी / बंगला)
3. रूमी का जन्म...में हुआ। (1400 / 1207 / 1503)
4. रूमी के अध्यात्मिक गुरू..थे। (शेख बहाउद्दीन / शम्श तबरेज / इलाउद्दीन मुहम्मद)
5. रूमी का निधन...हिजरी में हुआ। (550 / 672 / 700)

(ख) सत्य /असत्य. का चुनाव कीजिए ।

1. रूमी सर्वात्मवाद में विश्वास करते थे।
2. रूमी ने सूफी परम्परा के नर्तक साधुओं की परम्परा का विकास किया।
3. मौलाना हसामाउद्दीन चिश्ती के आग्रह पर रूमी ने मसनवी की रचना की
4. रूमी का जन्म. बाल्खक नगर में हुआ था।
5. रूमी के पिता का नाम शेख बहाउद्दीन था।

11.5 कबीर

11.5.1 कबीर ; जीवन परिचय

कबीरदास निर्गुणमार्गी कवि एवं उच्च कोटि के संत थे। हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन साहित्य के आप प्रमुख स्तम्भों में से एक हैं। हिन्दी साहित्य में भक्ति आन्दोलन को प्रसारित करने में भी आपका योगदान सर्वाधिक है। भारतीय जीवन की ह्रासपरक स्थितियों के बीच आपका व्यक्तित्व गठित हुआ।

कबीरदास जी का जन्म सन् 1398 ई. में बनारस जिले के लहरतारा नामक स्थान पर हुआ था। आपके जन्म, परिवार के बारें में स्पष्टपतया कोई सूचना नहीं मिलती। किवदंती के अनुसार आपका जन्म हिन्दू परिवार में हुआ था, किन्तु आपका पालन–पोषण नीमा और नीरू नामक जुलाहा दम्पति ने किया था। हालाँकि कुछ अध्येताओं का मत है कि आप का जन्म हिन्दू धर्म को छोड़ तत्काल मुसलमान बने जुलाहा जाति में हुआ था। आपकी पत्नी का नाम लोई था। तथा आपके पुत्र का नाम कमाल तथा पुत्री का नाम कमाली था। कबीदास जी जुलाहे के व्यवसाय से आजीवन जुड़े रहे। आपके जन्मे की तरह आपके गुरू का नाम भी विवादित रहा है। कुछ लोग आपके गुरू के रूप में शेख तकी का नाम लेते हैं, किन्तुा अधिकांश लोगों का मानना है कि आपके गुरू रामानन्द जी थे। रामानन्द उस समय के बड़े संत और आध्यात्मिक गुरू

थे। ऐसी जनश्रुति है कि पहले रामानन्द ने कबीर को अपना शिष्य बनाने से इन्कार कर दिया था। कबीर को मालूम था कि रामानन्द प्रतिदिन पंचगंगाघाट की सीढ़ियों से होकर गंगा स्नान करने जाते हैं। एक दिन प्रातः काल ही कबीर पंचगंगाघाट की सीढ़ियों पर लेट गये। रामानन्द जब स्नान करने के लिए वहाँ आये, तब उनका पैर कबीर के उपर पड़ा। रामानन्द के मुँह से 'राम' निकला। कबीर ने इसे अपने जीवन का मूल मंत्र बना लिया। किन्तु कबीरदास के राम 'सगुण राम' नहीं हैं। कबीर के राम निर्गुण राम हैं। 'राम नाम का मरम है आना'– उनके जीवन और साहित्य का मूल केन्द्र बन गया।

कबीरदास जी घुम्मकड़ संत थे। कबीरदास ने सम्पूर्ण उत्तर भारत की यात्रा की। इस भ्रमण और यात्रा के बीच उनके मत का प्रचार–प्रसार होता रहा। स्वंकय कबीरदास ने भी कई मत–मतान्तरों को ग्रहण किया। उनके उपर वैष्णवों के प्रपत्तिवाद, वेदान्त के अद्वैतवाद, इस्लांम के एकेश्वरवाद, सूफी के प्रेमतत्व, नाथ पन्थ के हठयोग का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। कबीरदास ने सभी मतों को अपने व्यक्तित्व में समायोजित किया तथा अपना नया पंथ चलाया। कबीरदास के पंथ को 'कबीर पंन्थ' कहा गया। हालाँकि कबीर पन्थ का निर्माण उनके शिष्यों ने किया। स्वयं कबीरदास पंथ–निर्माण या सम्प्रदाय–निर्माण के विरोधी थे। इनका मार्ग सर्वधर्म समभाव ही था।

कबीरदास की मृत्यु 1518 ई. में हुई । उनकी मृत्यु को लेकर भी विवाद रहा है। इस सम्बन्ध में एक दिलचस्प कहानी प्रचलित है। कहा जाता है कि काशी में मृत्यु होने पर व्यक्ति स्वर्ग जाता है तथा मगहर (काशी से 50 किलोमीटर दूर एक स्थान) में मृत्यु होने पर उसे नर्क की प्राप्ति होती है। कबीरदास जी इस लोक कथन को मिथ्या सिद्ध करने के लिए अपनी मृत्यु से पूर्व मगहर चले गये। कबीरदास जी का पूरा जीवन ही सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ संघर्ष में बीता। कबीर केवल संत ही नहीं थे, वे उच्चकोटि के कवि एवं समाज सुधारक भी थे।

11.5.2 कबीर के साहित्य की अन्तर्वस्तु

कबीर मूलतः संत हैं। इसलिए वे 'शास्त्र ज्ञान' की जगह 'स्वानुभूत ज्ञान' को महत्व देते हैं। वह प्रेम को शास्त्रीय ज्ञान के उपर रखते हैं– 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय। ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय।।' वस्तुततः मध्यकाल में शास्त्रीयता और प्रेम, भक्ति और हठयोग, सत्ता और जन, दरबार और लोक, निर्गुण और सगुण, ज्ञान और प्रेम जैसे द्वंद्व प्रमुखता से उभर गये थे। कबीर और अन्य संत कवियों का कार्य इस द्वन्द्व को पाटना था। कबीर ने बाह्याचारों, कर्मकाण्डों, जातिगत भेदभाव व साम्प्रादायिक वैमनस्यता का विरोध करते हुए मानव मात्र की एकता–समता का प्रतिपादन किया। 'कबीर में नकार का साहस था'। उनकी कविता सामाजिक विसंगतियों के नकार पर पली–बढ़ी है। किन्तु यह कबीर की कविता का एक पक्ष है। कबीर के पद

और उनकी साखियाँ (दोहे) अपने विषयवस्तु और ट्रीटमेन्ट में अलग हैं। कबीर की रचनाओं की संख्या को लेकर काफी विवाद रहा है। विशप जी. एच. वेस्टकॉट ने 84, मिश्रबंधु ने 75, हरिऔध ने 21, रामकुमार वर्मा ने 61, नागरी प्रचारिणी सभा ने 140 ग्रन्थों की सूची दी है। किन्तु अभी तक प्रामाणिक रूप से 'बीजक' ही प्राप्त हुआ है। बीजक के तीन भाग हैं– साखी, सबद और रमैनी। साखी में सामाजिक जीवन पर आधरित दोहे हैं, सबद में ब्रह्म सम्बन्धी पद तथा रमैनी में आध्यात्मिक विचार संकलित हैं ।

यहाँ कबीर की कविता के कुछ अंश दिये जा रहे हैं, जिससे हम उनकी कविता की अन्तर्वस्तु को समझ सकें।

कबीर कहै में कथि गया, कथि गये ब्रह्म महेश
राम नाम तनसार है, सब काहू उपदेश

तूँ तूँ करता तू भया मुझ में रही न हूँ
वारी फेरी बलि गई जित देखौं तित तूँ

बिरहा–बुरहा जानि कहा बिरहा है सुलतान
जा घट न संचरै सो घट सदा मसान

कबीर माया पापिनी, फंद ले बैठी हाटि
जन जन तौ फन्दे परा, गया कबीरा काटि
माया महाठगिनी हम जानी / निर्गुण फांसि लिए कर डोले / बौले मधुरी बानी / केसव के कमला होई बैठी / सिव के भवन भवानी/ पंडा कै मूरति होई बैठी /तीरथ में भइ पानी

11.5.3 कबीर साहित्य का प्रदेय

आपने कबीर के कुछ दोहे व पद पढ़े । आपने देखा कि कबीर की कविता में अनुभूत सत्य को वैचारिक सत्य से ज़्यादा महत्व दिया गया है। कबीर की वैचारिकी मात्र शुष्क बौद्धिक नहीं है, वह अनुभूति की आंच में पकी है। कबीर जिस युग में रचना कर रहे थे, वह धार्मिक–सामाजिक रूप से अंसतुलित युग था। इस्लाम और हिंदू धर्म एक–दूसरे के पास नहीं आ पाये थे। उनमें एक दूसरे के प्रति अविश्वास था। इस अविश्वास–संदेह को दूर करने का ऐतिहासिक दायित्व कबीर ने उठाया। कबीर का सबसे बड़ा सांस्कृतिक योग यह था कि वे हिंसक युग में मानवतावाद की पृष्ठमभूमि रचने का उद्यम कर रहे थे। कबीर की वाणी ने हिन्दू–मुस्लिम मन के उपर से संकीर्णता

की पपड़ी गिराई। तब वे एक–दूसरे के करीब आने के लिए मानसिक रूप से तैयार हुए। इसी कार्य को जायसी जैसे सूफी कवियों ने आगे बढ़ाया।

कबीर की साहित्यिक प्रतिभा से ज़्यादा उनके सामाजिक सुधार व व्यूक्तित्व की चर्चा की जाती है, किन्तु कबीर के पदों को देखने पर सही ही लगता है कि कबीर के सामने भाषा लाचार–सी नज़र आती है (हजारी प्रसाद द्विवेदी)। कबीर की कविता को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि उनके पूर्व शब्दों से भाव निर्मित करने की परिपाटी रही है, किन्तु कबीर के सघन भाव शब्दों को खुद–ब–खुद अपने पीछे लिये चलते हैं। कबीर को इसीलिए 'वाणी का डिक्टेटर' कहा गया है। कबीर के पूर्व हिन्दी भाषा में चन्दवरदाई व अमीर खुसरो जैसे महत्वपूर्ण कवि हो चुके थे। अमीर खुसरो खड़ी बोली के पहले कवि हैं। इस ढ़ग से कबीर ने ख़ड़ी बोली को साहित्यिक प्रतिष्ठा दिलाई। यहाँ यह कहना ज्यादा सही होगा कि कबीर हिन्दीं साहित्य को वैचारिक उत्कर्ष प्रदान करने वाले पहले कवि हैं।

अभ्यास प्रश्न 2

(क) सत्य / असत्य का चुनाव कीजिए ।

1. कबीर निर्गुणवादी सन्त परम्परा के कवि थे।
2. कबीर का जन्म काशी में हुआ था।
3. कबीर के गुरू का नाम तुलसीदास था।
4. कबीरदास जी पर वैष्णवों, सूफियों, इस्लाम, वैदान्त का प्रभाव स्वीकार किया गया है।

(ख) रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।

1. कबीर का जन्म..ई. में हुआ। (1398/1498/1598)
2. कबीर की मृत्यु...नामक स्थान पर हुई। (काशी/मगहर/जयपुर)
3. कबीर की रचना..नाम से ख्यात है। (मानस/बीजक/अवधूत)
4. रमैनी में कबीर के..विचार संकलित हैं। (सामाजिक/आध्यात्मिक/मनोवैज्ञानिक)
5. कबीर के सामाजिक कथन उनकी............................में व्यक्त हुए हैं । (साखियों/रमैनियों/पदों)

11.6 रैदास

11.6.1 जीवन परिचय

रैदास निर्गुण भक्ति काव्य परम्परा के महत्वपूर्ण कवि हैं। रामानन्द के 12 शिष्यों में से आप भी थे। कबीर की अपेक्षा रैदास का स्वर भिन्न है। कबीर की तेजस्विता जैसे आत्मवनिवेदन और प्रपत्तिभाव में विलीन हो गई हो। वस्तुतः निर्गुण भक्ति मार्ग में शास्त्रीय विधि–विधान, कर्मकाण्ड, बाह्यचार, अंधविश्वास, ऊँच–नीच के भेद का निरोध मिलता है। धार्मिक–सामाजिक रूढ़ियों, कट्टरताओं से मुक्त जिस भक्ति का निर्गुण कवियों ने प्रतिपादन किया है, वह बाह्यचार मूलक न होकर भावमूलक है, आन्तरिक है। इस भक्ति के लिए शास्त्र ज्ञान भी अपेक्षित नहीं है। निष्कलुष मन–हृदय से परमात्मा के प्रति सच्ची निष्ठा, सच्चा और निष्काम प्रेम ही इस भक्ति के आधार हैं। रैदास का साहित्य इसी प्रकृति का है।

रैदास का जन्म काशी में 1388 ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम संतोख दास और माता का नाम कलसा देवी था। आप जाति से चर्मकार थे, इसलिए आपकी आजीविका जूते बनाने की थी। मघ्याकालीन समय में जब जातिगत श्रेष्ठता की घोषणा होती थी, तब रैदास ने अपने को बार–बार 'रैदास चमारा' कह कर सम्बोधित किया है। रैदास में किसी प्रकार की जातिगत कुंठा नहीं है, क्योंकि उनके लिए जाति का अर्थ संकीर्ण था ही नहीं। एक जगह रैदास लिखते हैं– "जाति–जाति में जाति हैं, जो केतन के पात' / रैदास मनुष्य ना जुड़ सके जब तक जाति न जाता"। रैदास ईश्वर रचित मानव जाति में आस्था रखते थे। सामाजिक विभेदकारी जाति के प्रश्न पर एक जगह रैदास ने लिखा है– "ब्राम्हण मत पूजिए जो होवे गुणहीन / पूजिए चरण चंडाल के जो होवे प्रवीन।" इन कथनों से स्पष्ट है कि रैदास अपनी जमीन पर पूरे स्वाभिमान के साथ खड़े हैं। कबीर की तरह आपकी कविता में जीवन समाज के बहुविध चित्र भले न मिलते हों, किन्तु आपकी कविता में एक गहरी आद्रता और निश्छलता मिलती है। आपके मत का प्रचार राजस्थान, गुजरात समेत सम्पूर्ण उत्तर भारत में मिलता है। आपके शिष्यों में कई राजा–महाराजा शामिल थे। मीराबाई को आपकी शिष्य कहा जाता है।

11.6.2 रैदास साहित्य की अन्तर्वस्तु

रैदास का साहित्य व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओं के आधार पर रचित हुआ है। रैदास की कविता में सहज भक्तिभाव, तथा आत्म निवेदन के भाव प्रमुखता से व्यक्त हुए हैं। आपकी कविता में ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, खड़ी बोली के साथ–साथ उर्दू–फारसी के शब्दों का मिश्रण है। आपकी कविता ने भक्ति को सहज रूप में ग्रहण करने वालों को बहुत प्रभावित किया। आपकी सादगी और भक्ति की प्रपत्ति भावना ही आपकी विशेषता है। यहाँ रैदास साहित्य के कुछ अंश दिये जा रहे हैं, जो आपको उनके साहित्य को समझने में सहायता करेंगे ।

अब कैसे छूटे राम रट लागी ।
प्रभु जी, तुम चन्दन हम पानी, जाकी अंग–अंग वास समानी ।।

प्रभु जी, तुम घन वन हम मोरा, जैसे चितवन चंद चकोरा ।।
प्रभु जी, तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती ।।
प्रभु जी, तुम मोती, हम धागा, जैसे सोनहिं मिलत सोहागा ।।

रैदास कनक और कंगन माहि जिमि अंतर कछु नाहिं ।
तैसे ही अंतर नहीं हिंदुअन तुरकन माहि ।।

हिन्दू तुरक नहीं कछु भेदा सभी मह एक रक्त और मासा ।
दोउ एकउ दूजा नाहीं, पेख्यो सोइ रैदासा ।।

हरि सा हीरा छाड़िकै, करै आन की आस ।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रैदास ।।

अंतरगति राचैं नहीं, बाहर कथैं उदास ।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रैदास ।।

रैदास कहें लाके ह्दे, रहै रैन दिन राम ।
सो भगता भगवंत सम, क्रोध न व्यापै काम ।।

जा देखे घिन उपजै, नरक कुंड में वास
प्रेम भगति सो अधरे, प्रगटत जन रैदास

रैदास की कविताओं को देख उनके मतों की दृढ़ता का बोध होता है। भक्त कवि होते हुए भी वे जीवन की समस्याओं और उसके अन्तर्विरोधों से अनभिज्ञ नहीं हैं। तत्कालीन समाज के अन्तर्विरोधों के समानान्तर रैदास मानक जीवन की सहजता का शास्त्र अपनी कविता के माध्यम से रच रहे थे। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' आपका जीवन दर्शन था। कबीर की तरह आपके कथ्य आक्रामक भले न हों, किन्तु उनमें रुढियों का विरोध पर्याप्त तार्किक तरीके से किया गया है।

11.6.3 रैदास साहित्य का प्रदेय

रैदास का साहित्य निर्गुण भक्ति परम्परा का आधार लेकर विकसित हुआ है । वे ईश्वर को सब में देखते हैं 'थावर जंगम कीट पतंगा पूरि रहत हरिराई' । किन्तु इसका वर्णन नहीं किया जा सकता 'गुन निर्गुन कहियत नहिं जाके' । इस प्रकार वे ईश्वर के व्यापक रूपों की तलाश करते हैं। उनकी इस तलाश का निहितार्थ मनुष्य को उसके संकीर्ण रूपों से मुक्त होने में ही समझा जाना चाहिए।

रैदास का स्वतन्त्र रूप से कोई ग्रन्थ नहीं मिलता । उनके फुटकल–पद 'बार्नी' नाम से 'संतवानी सीरिज' में संग्रहीत हैं । उनके कुछ फुटकल–पद 'गुरू ग्रन्थ साहिब'

में भी मिलते हैं। रैदास के पदों में मानव–मानव की एकता के स्वर तो मिलते है; किन्तु उनमें कबीर की तरह भाव–सबलता नहीं मिलती। भारतीय मध्य काल के जिस दौर में रैदास रचना कर रहे थे, उसमें जातिगत द्वेष, धार्मिक पाखण्ड एंव मानवीय क्रूरता का चहुँओर वर्चस्व छाया हुआ था। रैदास की रचनाएं क्रूर ,पाश्विक, घृणित माहौल के बीच मानव समता की बात करती हैं । एक प्रकार से हम उन्हें 'मानवतावादी कवि' या 'समतावादी कवि' कह सकते हैं।

11.7 नानक

11.7.1 जीवन–परिचय

गुरूनानक जी सिक्ख धर्म के संस्थापक व प्रसिद्व भक्ति कवि हैं। इनका जन्म 15 अप्रैल 1469 को तलवण्डी (पाकिस्तान) में हुआ था। आज यह स्थान 'ननकाना साहिब' के नाम से जाना जाता है। इनकी माता का नाम तृप्ता एवं पिता का नाम मेहता कल्याणदास था। बड़ी बहन 'नानकी' के अनुकरण पर आपका नाम 'नानक' रखा गया। कुछ लोग इसे 'आत्मा' और 'देह' के रूप में भी देखते हैं। कहा जाता है कि नानक की आध्यात्मिक प्रकृति की अनुभूति सर्वप्रथम नानकी को ही हुई थी। एकान्तवास और अध्यात्म चिन्तन ही आपका जीवन था। आपका विवाह सुलक्खनी जी से हुआ था। आपके दो पुत्र श्रीचंद और लक्ष्मीचन्द्र थे। परिवार और गृहस्थी में आपका मन न रम सका। सूबेदार दौलत खाँ लोदी के एक कर्मचारी के यहाँ आपने नौकरी भी की, किन्तु वह भी उन्हें संसारिकता में नहीं बॉध पाया। कहा जाता है कि आटा तौलते समय वे एक, दो, तीन गिनते हुए जब तेरह पर आए तो इसके पंजाबी उच्चारण 'तेरा' पर उनका ध्यान अध्यात्म की ओर चला गया। 'मैं तेरा हूँ' के भाव ने उन्हें तन्मय कर दिया। हाथ से आटा तौलते रहे, किन्तु मुँह से 'तेरा–तेरा' का उच्चाारण ही करते रहे और सारा भण्डार खाली हो गया। इस घटना से आपकी नौकरी छूट गयी और आप अध्यात्म के पथ पर निकल पड़े। साधु–संगत, भ्रमण, धर्मोपदेश, अध्यात्म चिन्तन ही आपका जीवन एवं कर्म बन गया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सही लिखा है– 'उन्हें संसार बॉध नहीं सका, पर संसार के बंधन से छुटकारा देने और दिलाने का रहस्य उन्हें प्राप्त हो गया।'

गुरूनानक का सम्पूर्ण जीवन अध्यात्म और सतसंग को समर्पित था। वे अन्तर्ज्ञान में विश्वास रखते थे। किन्तु नानक का अन्तर्ज्ञान समाज–निरपेक्ष न था। गुरूनानक का पूरा जीवन सामाजिक गतियों के बीच बीता। उनके द्वारा की गई चार यात्राएं जिन्हें 'उदासी' नाम दिया जाता है, काफी प्रसिद्व हैं। उनकी पहली यात्रा लाहौर, एमनाबाद, दिल्ली, काशी, पटना, गया, असम, जगन्नाथपुरी, सोमनाथ, रामेश्वर, द्वारिका, नर्मदा तट, बीकानेर, पुष्कर, दिल्ली, पानीपत, कुरूक्षेत्र, सुल्तानपुर इत्यादि स्थलों पर हुई। इस यात्रा में उन्होंने आडम्बर की निरर्थकता समझकर लोगों को रागात्माक भक्ति की ओर उन्मुख

किया। इस यात्रा में उनके साथ मरदाना थे। दूसरी यात्रा 1507 से 1515 ई. के बीच की है। इस यात्रा में वे सिरसा, बीकानेर, अजमेर, उज्जैन, हैदराबाद, बीदर, रामेश्विर, शिवकांची और लंका गये। इस यात्रा में उनके साथ सैदो और धोबी नाम के शिष्य थे। उनकी तीसरी यात्रा 1518 से 1521 ई. तक की है। इसमें उन्होंने कश्मीर, कैलाश, मानसरोवर, भूटान, नेपाल, जम्मू स्यालकोट से होते हुए तलवंडी की यात्रा की। इस यात्रा में उनके साथ नासू और शिहा नामक दो शिष्य थे। नानक ने अपनी चौथी यात्रा में बलूचिस्तान, मक्का, मदीना, बगदाद, ईरान, पेशावर, मुल्तान की यात्रा की। इस यात्रा में उन्होंने अनेक मुस्लिम संतो का सत्संग किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके यात्रा पर लिखा है "उनकी वाणी की मोहकता, उनके व्यक्तित्व का आकर्षण और उनकी भगवत–निष्ठा का प्रभाव इन यात्रा–वृतान्तों से स्पष्ट हो जाता है।"

युगीन परिस्थितियों के चित्रण के साथ–साथ धर्मिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों, कर्मकाण्डों की निन्दा है। इस प्रकार गुरूनानक का साहित्य् बहुत व्यापक है। उसमें भक्ति भी है, लोक भी है, प्रतिकार भी है, नीति भी है। आपकी रचनाएं व्यक्तिगत मुक्ति की आकांक्षा से निर्मित नहीं है, बल्कि उनमें समूह की मुक्तिकामना है। गुरूनानक भक्त कवि हैं। ज्यादा सही यह कहना होगा कि वे निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं। किन्तु उपासक की आन्तरिक वृत्ति के अनुसार वे ब्रह्म के निर्गुण–सगुण दोनों रूपों का चित्रण करते हैं।

गगन में थालु रवि चन्दु दीपक बने तारिका मण्डल जनक मोती ।
धूपु मल आन लो, पवण चवरो करे, सगल वनराई फूलंत जोती । (घनसरी, सबद 9)

गुरूनानक कहते हैं कि – जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्म अकथनीय है, उसी प्रकार सगुण ब्रह्म का विराट स्वरूप कथन से परे है–

अंत न जापै कीता आकारू। अंत न जपै फरावारू।।
अंत कारणि केते विललाहि। ता के अंत न पाए जाहि।।
एहु अंत न जाणे कोइ। बहुत कहीए बहुता होइ।।

सम्पूर्ण भक्ति साहित्य में गुरू महिमा का चित्रण मिलता है। कबीर ने तो स्पष्ट रूप से कह ही दिया कि 'गुरू गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पांव'। वस्तुतः निराकार भक्ति मूलतः ज्ञानमूलक होती है। ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरू की अनिवार्यता (बिन गुरू होईं न ज्ञान –कबीर) स्वंयसिद्ध है। नानक ने भी गुरू की महत्ता बताई है। 'ऐसा हमरा सखा सहाई'/ गुरू हरि मिलिआ भगति हड़ाई। कहु नानक गुरि ब्रह्म दिखाइआ'। ज्ञान परम्परा में गुरूनानक का दृढ़ विश्वास था। उनकी भक्ति सामाजिक गति से विछिन्न न थी।

11.7.2 नानक के साहित्य की अन्तर्वस्तु

गुरुनानक की रचनाएं 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में संकलित है। चूँकि गुरुनानक जी ने स्वयं अपनी रचनाओं का संकलन नहीं किया था, अतः उनकी रचनाएं यत्र–तत्र बिखरे रूप में है। गुरुनानक जी के व्यापक साहित्य को देखते हुए उनकी कृतियों को चार भागो में विभक्त किया गया है। 1. वृहदाकार कृतियाँ (जपुजी, सिध गोसटि, ओंकार, पट्टी, बारहमाह, थिति 2.लघ्वाकार कृतियाँ (पहरे, सोदर, अलाहिणयाँ, कुचजी, सुचजी) 3.वार काव्य (माझ की वार, आसा की वार, मलार की वार) तथा फुटकल पद (चौपदे पद्य), अष्टपदियाँ, छंत, सोलहे, श्लोक। जपुजी में नाम स्मरण, श्रवण और मनन की प्रधानता है। इस वाणी में पांच अवस्थाओं का वर्णन है – धर्मखण्ड, ज्ञानखण्ड, सरमखण्ड, करमखण्ड, सचखण्ड। पट्टी में वर्णमाला के क्रमानुसार काव्यसर्जना है। इसमें गुरुनानक का सचेत कविरूप दिखाई देता है। ओंकार और सिध गोसटी की वाणी का मूल लक्ष्य प्रभु मिलान का महत्व और उसके उपाय निर्दिष्ट करना है। इसमें गुरुनानक ने योगियों के प्रतीकों, रूढ़ियों एंव आडम्बर का खण्डन करते हुए अपने सिद्धांतो की सारगर्भित व्यंजना की है। बारहमास में परमात्मा से विमुक्त मानव की विरह वेदना 12 मासों के नाम से व्यंजित है। थिति अंधविश्वास, रुढियों के खंडन तथा सभी तिथियों की शुभता पर आधारित है। पहरे में मनुष्य की विभिन्न जीवन अवस्थाओं का वर्णन, सोडर में परमात्मा के विशद् द्वार का वर्णन, अलहिणयाँ में लोकगीत शैली में वैराग्य भाव की प्रधानता, कुचजी में प्रभु से विमुक्त जीवात्मा का बुरी स्त्री के रुप में वर्णन, तथा वरकाव्य में संघर्ष का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त उनकें फुटकल रचनाओं में ऐसे पद हैं, जो विभिन्न अवसरों पर विविध परिस्तिथियों के अनुकूल रचे गयें हैं । इस प्रकार नानक काव्य जीवन के हर पक्ष को अपने में समेटे हुए है।

11.7.3 नानक साहित्य का प्रदेय

गुरुनानक का साहित्य पश्चिमोत्तर भारत से लेकर उत्तर भारत तक के जन–जीवन की आकांक्षा, संघर्ष एव आस्था का प्रतीक है। आज आपकी वाणी सिक्ख पंथ का आधार बनी हुई है तथा मनुष्यता को जोड़ने वाला सूत्र भी। गुरुनानक लोकनायक संत है। उस युग की जनता की आकांक्षा ही भक्ति कविता के रूप में आपकी वाणियों में मुखरित हुई हैं। सम्पूर्ण भारत एव मध्य एशिया के देशों में आपने भ्रमण किया तथा देखा कि मानव जाति बाह्य संकीर्णताओं में बंट चुकी है। एसी स्थिति में आपका साहित्य उन संकीर्णताओं को पाटने का कार्य करता है।

अभ्यास प्रश्न 3

(क) रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए ।

1. रैदास ....परम्पतरा के संत कवि थे। (सगुण/कृष्णकभक्ति/निर्गण)
2. कबीर का जन्म.....................................ई. में हुआ था। (1388/1398/1408)
3. रैदास के गुरू का नाम......................................था। (कबीर/रामानन्द/नानक)
4. नानक का जन्म...में हुआ था। (1469/1479/1489)
5. गुरूनानक द्वारा की गयी..यात्राएं काफी प्रसिद्ध हैं। (छः/चार/दो)

(ख) सत्य/असत्य का चुनाव कीजिए।

1. गुरूनानक जी सिक्ख धर्म के संस्थापक एवं प्रसिद्ध भक्त कवि थे।
2. गुरूनानक की यात्राओं को उदासी नाम दिया गया है।
3. जपुजी गुरूनानक की बृहदाकार कृति में सम्मिलित हैं।
4. गुरूनानक की रचनाएं गुरूग्रन्थ साहिब में संकलित हैं।
5. रैदास की रचनाएं बानी नाम से संकलित हैं।

11.8 मानव मूल्य और संत काव्य परम्परा

आपने संतकाव्य की विशेषताओं को पढ़ा। कबीर, रूमी, रैदास एंव नानक जैसे संत कवियों का अध्ययन भी आपने किया है। इस इकाई के प्रारम्भ में ही हमने मानव मूल्य, और महापुरूषों के अन्तर्सम्बन्ध को पढ़ा। हमने जाना है कि 'महापुरूष अपने युग की संम्भावना के पूर्तिकर्ता' होते हैं। युग की संभावना उस युग के महापुरूषों के माध्यम से प्रकट होती है। किन्तु एक महापुरूष जब एक लेखक होता है तब क्या वह एक संत व्यक्तित्व से भिन्न हो जाता है? महानता बहुआयामी होती है। किसी के व्यक्तित्व की नाप के लिए कोई निश्चित 'टूल' या मापदण्ड नहीं हो सकते, उसी प्रकार महानता भी किन्हीं, किसी भी निश्चित बिन्दुओं के आधार पर तय नहीं की जा सकती। अच्छा लेखन, समाज सुधार का महत्वपूर्ण कार्य, सेवा कार्य, राजनेता, खिलाड़ी, कलाकार, वैज्ञानिक या अन्य क्षेत्रों में विशिष्ट कार्य करने वाले भी 'महानता' पद के अधिकारी हो सकते हैं। किन्तु विशेषीकृत क्षेत्र की उँचाई और मानव मूल्य संरक्षण में साम्य होकर भी दोनों अनिवार्य रूप से एक ही हों, यह अनिवार्य नहीं। मानव मूल्य का अनिवार्य सम्बन्ध व्यापक मानवीय मूल्यों को धारण करने वाले व्यक्तित्व से है। ऐसे व्यक्तित्व संत परम्परा या सन्त काव्य परम्परा में बहुतायत मिलते हैं। मानव मूल्य के आधारभूत करूणा, प्रेम, भक्ति, समर्पण, सेवाभाव, मानवतावाद, सर्वमत समभाव रहें हैं। इस दृष्टि से यहाँ ज्ञान को व्यक्तित्व में ढालने का प्रयास हुआ है। संत काव्य परम्परा मूलतः ज्ञानमार्गी परम्परा रही है, किन्तु यह ज्ञान व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग बन सकी है। रूमी, कबीर, नानक, रैदास जैसे सन्त

कवि अपने ज्ञानात्मक प्राप्य के पश्चात ही उसे अपने व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग बना सके हैं। '

11.9 सारांश

मानव मूल्य एवं आचार से सम्बन्धित चतुर्थ खण्ड की यह दूसरी इकाई रूमी, कबीर, रैदास एंव नानक पर केन्द्रित है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपने जाना कि –

- मानव मूल्य की अवधारणा में आचरण और व्यक्तित्व अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हैं। मानवीय प्रकृति जब उर्ध्वगामी बनकर सामूहिक क्रियाशीलता के रूप में ढल जाती है, तब वह मानव मूल्य में रूपान्तरित हो जाती है।

- मानव मूल्य का अनिवार्य सम्बन्ध महापुरूषों से होता है। महापुरूष अपने युग की सम्भावना के निचोड़ होते हैं। हर युग अपने लिए नयी सम्भावना लेकर आता है। इस नयी सम्भावना का प्राकट्य महापुरूषों के माध्यम से होता है। महापुरूष स्वयं सामाजिक मांग व सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति में सहायक होते हैं।

- रूमी, कबीर, रैदास एवं नानक के जीवन–वृत्त के ज्ञान से हमने जाना कि महापुरूषों/कवियों का जीवन आचरण सामान्यी व्यक्तित्व से इसलिए भिन्न हो जाता है, क्योंकि ये जीवन को गति में, परिवर्तन में स्वीकार करते हैं ।

- मानव मूल्य का सम्बन्ध ह्नदय की पवित्रता एंव सामाजिक मंगलकामना से युक्त कर्म से है। महापुरूषों एवं सन्त कवियों की रचनाएं इस मानव मूल्य की उद्घोषिका हैं। इसलिए मानव मूल्य के निर्माण में साहित्य हमेशा से आधारभूत योगदान निभाता रहा है।

11.10 शब्दावली

उर्ध्वगमन	–	मनुष्य की वृत्तियों का आदर्श रूप
औकाव्य	–	मानवीय प्रकृति का श्रेष्ठ रूप
बहिर्मुखता	–	मानवीय प्रकृति का बाह्य संसार की ओर उन्मुख हो जाना
अन्वेषक	–	नए–नए मार्गों–विचारों का खोजकर्ता
स्वाध्याय	–	स्वयं द्वारा अध्ययन करने की प्रकृति
अध्यात्म	–	आत्मसत्व का ज्ञान
संक्रान्ति	–	दो विपरित स्थितियों–विचारों के संघर्ष की स्थिति
मसनवी	–	फारस की काव्य शैली

11.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1(क)

1. – कहानी
2. – फारसी
3. – 1207
4. – शम्श तबरेज
5. – 672

(ख)

1. – सत्य
2. – सत्य
3. – सत्य
4. – सत्य
5. – सत्य

2 (क)

1. – सत्य
2. – सत्य
3. – असत्य
4. – सत्य

(ख)

1. – 1398ई.
2. – मगहर
3. – बीजक
4. – आघ्यात्मिक
5. – साखियों

3(क)

1. – निर्गुण
2. – 1398
3. – रामानन्द
4. – 1469 ई.
5. – चार

(ख)

1. – सत्य
2. – सत्य
3. – सत्य
4. – सत्य
5. – सत्य

11.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. बीजक – कबीर
2. बानी – रैदास
3. गुरू ग्रन्थ साहिब
4. जलालुद्दीन रूमी, चौधरी शिवनाथ सिंह
5. रूमी मसनवी – विकीपीडिया

11.13 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. शुक्ला, रामानन्द – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणासी

इकाई. 12 महापुरुष : परिचय एवं जीवन मूल्य– महात्मा गाँधी, विवेकानन्द एवं श्री अरविन्द

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 महात्मा गॉधी

- 12.3.1 महात्मा गॉधीः एक परिचय
- 12.3.2 गॉधी जी के विचार

12.4 स्वामी विवेकानन्द

- 12.4.1 विवेकानन्दः जीवन परिचय
- 12.4.2 विवेकानन्द जी के विचार

12.5 श्री अरविन्द

- 12.5.1 श्री अरविन्दः एक परिचय
- 12.5.2 श्री अरविन्द का जीवन दर्शन

12.6 सारांश

12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

12.1 प्रस्तावना

इस खण्ड की पूर्व की इकाईयों में आपने पहले पाश्चात्य जगत और फिर भक्ति एवं सूफी धारा के महापुरुषों के बारे में पढ़ा। प्रस्तुत इकाई इस खण्ड की अन्तिम इकाई है। इसमें हम आपका परिचय आधुनिक भारत की उन तीन विभूतियों से कराने जा रहे हैं, जिन्होंने ने न केवल इस राष्ट्र के आधुनिक स्वरूप को गढा है, वरन् सम्पूर्ण वैश्विक चिन्तन को एक नयी दिशा प्रदान की है।

आपने पढ़ा कि डॉ. मार्टिन लूथर किंग जूनियर कितना प्रत्यक्ष रूप से महात्मा गाँधी के जीवन और दर्शन से प्रभावित थे। इसी तरह सेन्ट फ्रांसिस की ईश्वर को समर्पित तथा सादगीपूर्ण जीवन शैली की पुनरावृत्ति हमें गाँधी जी के जीवन में दिखायी देती है। इसी प्रकार आपने रैल्फ वॉल्डो एमर्सन के ट्रान्सेन्डेन्टलिस्ट दर्शन को देखा कि उस पर किस तरह वेदान्त की गहरी छाप पड़ी है। उसी वेदान्त परम्परा के शिखर शिरोमणि हैं विवेकानन्द और श्री अरविन्द। इस इकाई में वर्णित तीनों महापुरुषों के जीवन में जो साम्यता है, वह है उनकी आधुनिकता। जहाँ तीन के तीनों उत्कृष्ट श्रेणी के सन्त हैं, वहीं उनका सम्पूर्ण जीवन अपने अपने तरीके से आधुनिक भारत के राष्ट्रनिर्माण को समर्पित रहा है।

12.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप समझ पायेंगे कि

- किस तरह से महात्मा गाँधी का जीवन–दर्शन राष्ट्रनिर्माण की व्यावहारिक दिशा प्रदान करता है।
- किस तरह विवेकानन्द इस राष्ट्र के युवाओं के प्रेरणास्रोत रहे हैं।
- किस प्रकार श्री अरविन्द का कार्य इस राष्ट्र के प्राण में विस्मृत हुए सनातन सत्य और जीवन की दिव्यता को अपने अलौकिक जीवन के उदाहरण से पुनः जाग्रत करना था।

12.3 महात्मा गाँधी

12.3.1 महात्मा गाँधीः एक परिचय

महात्मा गाँधी हमारे राष्ट्रपिता हैं। आधुनिक भारत की संरचना के हर ताने–बानें में उनके जीवन–दर्शन की अमिट छाप आज भी दृष्टिगोचर है। इतना ही नहीं, गाँधी जी

की विचार धारा ने पूरे विश्व पर अपना प्रभाव डाला है। तभी तो उनके बारे में प्रख्यात वैज्ञानिक आइन्सटाइन ने कहा था कि ''हजार साल बाद आने वाली नस्लें इस बात पर मुश्किल से विश्वास करेंगी कि हाड़मांस से बना ऐसा कोई इन्सान भी धरती पर कभी आया था।'' विश्वपटल पर महात्मा गाँधी सिर्फ एक नाम नहीं, अपितु शान्ति और अहिंसा के उत्कृष्ट प्रतीक हैं। उनके जन्मदिन को आज अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस के रूप में मनाया जाता है।

गाँधी जी का जन्म २ अक्टूबर १८६६ को गुजरात के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। इनके पिता का नाम करमचन्द गाँधी और माता का नाम पुतलीबाई था। गाँधीजी का पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गाँधी था। इनके पिता काठियावाड़ की एक छोटी सी रियासत के दीवान थे। मात्र तेरह वर्ष की आयु में इनका विवाह कस्तूरबा से कर दिया गया।

गाँधीजी के बचपन की कई घटनाएं हैं जिनका वर्णन उन्होंने गुजराती में लिखी अपनी आत्मकथा ''मेरे सत्य के प्रति प्रयोग'' में किया है। इससे पता चलता है कि कैसे गाँधीजी के बचपन के अनुभव उनके विराट व्यक्तित्व का हिस्सा बने। उनकी माता पुतलीबाई बहुत धर्मनिष्ठ महिला थीं। सत्य के प्रति आग्रह एवं निष्ठा उन्होंने अपनी माँ से ही सीखा। गाँधीजी की बाल्यावस्था में दो कहानियों ने उन पर गहरा प्रभाव छोड़ा– एक थी श्रवणकुमार की पितृभक्ति और दूसरी सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा। बालक गाँधी में एक और विलक्षण गुण देखने को मिलता है, वह है आत्ममन्थन तथा आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति। क्या सही है क्या गलत, क्या सत्य है क्या असत्य, इसका निर्णय उनके लिये सर्वोपरि था। उनके बचपन की एक सर्वविदित घटना है जब मिस्टर गाइल्स उनके स्कूल का निरीक्षण करने आये हुये थे। गाँधीजी ने उस दिन की परीक्षा में किसी शब्द की वर्तनी अशुद्ध लिखी थी। अध्यापक ने इशारा किया कि वह पास बैठे विद्यार्थी की कॉपी से नकल कर लें परन्तु गाँधीजी ने नकल नहीं की, क्योंकि वह मानते थे कि यह गलत है। इसके बाद भी उन्होंने उन अध्यापक के प्रति सम्मान का भाव रक्खा क्योंकि उन्हें सिखाया गया था कि बड़ों का सदैव आदर करना चाहिंये।

ऐसा नहीं है कि गाँधीजी ने बचपन में या उसके बाद गलतियाँ नहीं की। उन्होंने घरवालों से छिपकर मांसाहार किया, सिगरेट पीने की कोशिश की, और पैसे भी चुरायेय परन्तु हर गलती के बाद उन्होंने गहन चिन्तन किया और पश्चाताप भी किया। एक बार बालक गाँधी ने अपनी सारी गलतियाँ स्वीकार करते हुये उन्हें एक कागज पर लिखकर अपने पिता को पकड़ा दिया, और दन्ड की प्रतीक्षा करने लगे। इसे पढ़ने के बाद पुत्र की ईमानदारी पर पिता जी की आंखों में आंसू आ गये। अपनी कमियों को ईमानदारी से देखना और अपनी गलतियों से सबक लेना महानता का परिचायक होता है, यही हमें गाँधी जी से सीखने को मिलता है।

प्रारम्भिक शिक्षा पोरबन्दर से प्राप्त करने के बाद गाँधी जी कानून की पढ़ाई करने के लिये इंग्लैण्ड चले गये। वर्ष १८६३ में इंग्लैण्ड से वापस आने के बाद उन्होंने एक भारतीय फर्म से एक वर्ष के करार पर नटाल (दक्षिण अफ्रीका) में वकालत का कार्य स्वीकार किया। यहाँ उन्हें अंग्रेजों के रंगभेद एवं नस्लीय भेदभाव पूर्ण शासन का कटु अनुभव हुआ, जिसने उनके जीवन को एक नया मोड़ दिया। दक्षिण अफ्रीका में एक बार ट्रेन में यात्रा के दौरान प्रथम श्रेणी के डिब्बे से बाहर जाने से इन्कार करने के कारण उन्हें ट्रेन से बाहर फेंक दिया गया। एक बार घोड़ागाड़ी के चालक से उन्हें पिटना पड़ा, क्योंकि यूरोपीय यात्री को अपनी जगह देकर पायदान पर यात्रा करने से उन्होंने मना कर दिया। नटाल में भारतीय व्यापारियों और श्रमिकों के लिये ऐसे अपमान उनके दैनिक जीवन का हिस्सा थे।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के मूलभूत नागरिक अधिकारों के लिये संघर्ष करते हुये वे कई बार जेल भी गये। रंगभेद की नीति के विरोध में उन्होंनें लोगों को संगठित करके ब्रिट्रिश शासन के विरुद्ध बिना हिंसा का सहारा लिये सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया। जब डरबन के न्यायालय में एक यूरोपीय मजिस्ट्रेट ने उन्हें पगड़ी उतारने के लिये कहा, तो उन्होंने इन्कार कर दिया और न्यायालय से बाहर चले गये। १६०६ में दक्षिण अफ्रीका के ट्रांसवाल प्रान्त की सरकार ने भारतीयों के पंजीकरण के लिये विशेष रूप से एक अपमानजनक अध्यादेश जारी किया। गाँधी जी के नेतृत्व में समस्त भारतीयों ने इसका जमकर विरोध किया, और इस आन्दोलन से सत्याग्रह का जन्म हुआ। सत्याग्रह का अर्थ है बिना हिंसा किये सत्य के पथ पर चलकर शान्ति से अपनी बात मनवाना।

गाँधी जी अफ्रीका में २१ साल रहने के बाद १६१४ में भारत वापस आये। इस समय तक वे एक महान क्रान्तिकारी तथा अन्याय विरोधी नेता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। १६१७–१८ के दौरान उन्होंने बिहार के चम्पारण नामक स्थान के खेतों में पहली बार सत्याग्रह का प्रयोग किया, क्योंकि अकाल के बाद वहाँ के किसान कर अदा करने की स्थिति में नहीं थे।

फरवरी १६१६ में रॉलेट एक्ट पर, जिसके तहत बिना मुकदमा चलाये जेल भेजने का प्रावधान था, उन्होंने अंग्रेजों का विरोध किया और सत्याग्रह आन्दोलन करने की घोषणा कर दी। उन्होंने समस्त देशवासियों से आह्वान किया कि वे सभी ब्रिटिश स्कूल और कॉलेजों का बहिष्कार करें तथा सरकार के साथ असहयोग करके उसे पूरी तरह अपंग कर दें। गाँधी जी ने साबरमती में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की तथा १६१६ में 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलन शुरू किया। १६३० में दाँडी यात्रा में नमक बना कर उन्होंने एक अन्यायपूर्ण कानून का सफलता पूर्वक उल्लंघन किया। स्वतन्त्रता संग्राम के इस दौर में गाँधीजी का तात्कालिक उद्देश्य था– भारत की स्वाधीनता, उसका स्वाभिमान जगाना,

तथा इस उद्देश्य के लिये सामूहिक चेतना का निर्माण करना। ब्रिटिश सरकार की विभिन्न नीतियों के विरोध में उन्होंने दिसम्बर १६३१ में एक बार पुनः सत्याग्रह प्रारम्भ किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान १६४२ में अंग्रेज सरकार के विरोध में गाँधी जी ने 'करो या मरो' तथा 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का निर्णयात्मक आन्दोलन छेड़ दिया।इसका इतना अधिक देशव्यापी प्रभाव पड़ा कि सारे भारतवासी इस आन्दोलन में कूद पड़े।

अन्ततः अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना पड़ा। १५ अगस्त १६४७ को भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया। लेकिन राष्ट्र को इस स्वतन्त्रता की भारी कीमत चुकानी पड़ी। जाते जाते अंग्रेजों ने भारत का बंटवारा कर दिया, और इस बंटवारे के फलस्वरूप हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच बलवा और व्यापक नरसंहार प्रारम्भ हो गया। सदैव से अहिंसा के पुजारी गाँधी जी का दिल टूट गया और वे उपवास पर बैठ गये। परन्तु अपनी पूरी कोशिश के बावजूद वह इस बंटवारे को नहीं रोक पाये।

३०जनवरी १६४८ को नाथूराम गोडसे नामक व्यक्ति ने गाँधीजी की गोली मारकर हत्या कर दी। दिल्ली में राजघाट में उसी जगह पर गांधीजी की समाधि स्थित है जहाँ उन्होंने 'हे राम' कहते हुये अपनी अन्तिम साँस ली थी। संयुक्त राष्ट्र संघ ने २००७ से गाँधी जयन्ती को 'विश्व अहिंसा दिवस' के नाम से मनाये जाने की घोषणा की।

12.3.2 गाँधीजी के विचार

निश्चय ही गाँधी जी का व्यक्तित्व बहुआयामी रहा है। परन्तु प्रमुखतः उन्हें दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के नागरिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष तथा भारत के स्वतन्त्रता संग्राम आन्दोलन के कर्णधार के रूप में जाना जाता है। गाँधी जी ने प्रारम्भ से ही इन आन्दोलनों के लिए सत्य, अहिंसा, और सविनय अवज्ञा अथवा असहयोग का मार्ग चुना। ऐसे रण के लिए सैन्य शक्ति की नहीं, आत्मशक्ति की आवश्यकता होती है। आत्मशक्ति का स्रोत आत्मा में है, और उस स्रोत से तादात्म्य का मार्ग अध्यात्म है। गाँधी जी का सारा जीवन, उनकी सम्पूर्ण साधना, इसी तादात्म्य को स्थापित करने की रही है। इसीलिए कई लोगों की मान्यता है कि वे विशुद्ध धार्मिक व्यक्ति थे।

गाँधी जी परम्परागत धर्म में विश्वास नहीं करते थे। वह कहते थे कि सत्य के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं है और इसकी प्राप्ति के साधन प्रेम एवं अहिंसा है। अहिंसा सिर्फ शारीरिक स्तर पर ही नहीं अपितु मनुष्य के मन, वचन और कर्म में भी परिलक्षित होनी चाहिये। इसका मूल अर्थ है– बुरा मत सुनो, बुरा मत देखो, बुरा मत कहो। सभी धर्मों का मूलतत्व है–प्रेम । उनके कहे ये शब्द कौन भूल सकता है कि लाखों करोड़ों गूँगों के हृदय में जो ईश्वर विराजमान हैं, वह उसके सिवा किसी ईश्वर को नहीं मानते। उनका प्रिय भजन था–"वैष्णव जन तो तेणे कहिये, जे पीर पराई जाणे रे"। राजनीति में स्वयं के प्रवेश के सन्दर्भ में वह कहते हैं –"सत्य के प्रति प्रेम ही मुझे

राजनीति में खींच लाया है। और बिना किसी हिचकिचाहट के, पूरी विनम्रता के साथ मैं कह सकता हूँ कि जो यह कहते हैं कि राजनीति में धर्म का कोई काम नहीं है, वह लोग धर्म का अर्थ समझते ही नहीं हैं"। उनका ईश्वर की प्रार्थना में अगाध विश्वास था। वह कहते हैं–"मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है कि प्रार्थना ह्रदय को कामनाओं से रहित करके उसको शुद्ध करने का अचूक माध्यम है। लेकिन इसके लिये अत्यधिक विनम्रता की आवश्यकता होती है।"

भगवद्गीता का गाँधी जी के जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा, विशेषकर इसमें उल्लिखित दो विचारों का– पहला है, 'अपरिग्रह' (त्याग) जिसका अभिप्राय है कि व्यक्ति को अपनी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक सांसारिक प्रलोभनों जैसे धन आदि के अनावश्यक उपभोग का त्याग करना चाहिये। दूसरा शब्द समभाव (समान भाव) जिसका अर्थ है कि जीवन की विषम परिस्थितियों में भी सफलता व असफलता, आशा और निराशा के भाव से परे भयमुक्त होकर जीवन पथ पर बढ़ते जाना। भौतिकता को सत्य मानने वाला दृष्टिकोण जीवन के उन्यन में कभी सहायक नहीं हो सकता है। मानव मन की असीम कामनाओं को सीमित करने की क्षमता भौतिकतावादी दृष्टि में नहीं है। इस क्षमता के लिये मानव मन में उदारता, सहिष्णुता एवं प्रेम की भावना का विकास आवश्यक है।

गाँधीजी जाति प्रथा के घोर विरोधी थे। भारतीय समाज के पतन का मुख्य कारण उसकी संकीर्ण जातिवाद रहा है। प्राणियों को जन्म के आधार पर जातियों, उपजातियों में बाँट दिया गया तथा उनके बीच ऊँच नीच की दीवारें खड़ी कर दी गयी। गाँधी दर्शन इन सभी दीवारों को तोड़ता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को प्राणीमात्र की पीड़ा से द्रवित होने तथा उनकी सेवा करने की प्रेरणा प्रदान करता है। हम २१वीं सदी में प्रवेश कर गये हैं परन्तु छुआछूत जैसी प्रथा आज भी कुछ सीमा तक विद्यमान है। हमने उस वर्ग को 'अछूत' कहकर हाशिये पर धकेल दिया जिसके बिना हमारा सामाजिक ढ़ाँचा चरमरा जायेगा। गाँधीजी ने इस वर्ग को गले लगाया और हरिजन अर्थात् भगवान की सन्तान कहकर उनको समाज में सम्मानित स्थान दिलाया।

गाँधीजी ने शहरों की अपेक्षा गाँवों को अधिक महत्व दिया जो आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक प्रासंगिक है। महानगरों में जनसंख्या का बढ़ता दबाव, अन्धाधुँध भवनों का निर्माण अनेक आर्थिक और सामाजिक समस्यायें ही नहीं पैदा कर रहा है अपितु पर्यावरण के लिये भी संकट उत्पन्न कर रहा है। महानगरों के जीवन में एकाकीपन, अलगाव, मानसिक दबाव तथा असुरक्षा की भावनायें बढ़ रही है। बहुमंजिली इमारतों के निर्माण के लिये जंगल और कृषि योग्य भूमि का अनावश्यक उपयोग हो रहा है। हमारी विकास की अवधारणा क्या है ? बड़े–बड़े आलीशान मॉल, थियेटर, ओवर ब्रिज, फैक्ट्री का निर्माण और लगातार कम होती जा रही कृषि भूमि। पानी और अनाज

उगाने के लिये कृषि भूमि को बचाना वर्तमान समय की महती आवश्यकता है। आज र्स्माट सिटी यानि शहरों की बात हो रही है, र्स्माट विलेज यानि गाँव की जरुरत क्यों नहीं महसूस की जा रही है?

भविष्य में रोजगार के क्षेत्र में एक भयावह तस्वीर उभरकर आ रही है जहाँ मनुष्य की जगह रोबोट लेने जा रहे हैं। आज जब सभी क्षेत्रों में बेरोजगारी बढ़ रही है, तो गाँधी जी की दूर दृष्टि हमें छोटे कुटीर उद्योगों की तरफ प्रेरित करती है, जिनमें लागत भी कम लगती है। आज आर्थिक मंदी झेलते हुये विश्व में रोजगार में भारी गिरावट आ चुकी है। इसलिए एक बार फिर हमें गाँव की ओर लौटना होगा। आज की परिस्थितियों में सरकार भी स्वरोजगार योजनाओं के अन्तर्गत इन उद्योगों को प्रोत्साहित कर रही है। गाँधीजी हमें बार–बार याद दिलाते हैं कि कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं होता है। गाँधीजी स्वयं चरखा चलाते थे तथा सूत कातते थे। गाँधीजी के अनुसार शिक्षा रोजगार परक हो, हस्तशिल्प एवं उत्पाद कार्य पर केन्द्रित हो, जो व्यक्ति को उसके स्वभावानुसार किसी प्रकार का कौशल प्रदान कर सके। वह कुटीर उद्योग धन्धों के प्रशिक्षण को शिक्षा प्रणाली का आवश्यक अंग मानते थे।

शिक्षा के सम्बन्ध में गाँधीजी का विचार है कि शिक्षा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास में सहायक होनी चाहिये व मातृभाषा उसका माध्यम होना चाहिये। उनका मत था कि सात वर्ष की आयु तक निशुल्क बुनियादी शिक्षा सभी के लिये अनिवार्य हो। आज शिक्षा की आधारभूत गुणवत्ता में दोष है। हम आज भी मैकॉले की पाश्चात्य संस्कृति प्रधान शिक्षा प्राप्त करने के लिए विवश हैं। अंग्रेजी भाषा और संस्कृति के प्रति विशेष अनुराग होने के कारण हम अपनी स्वयं की भाषा और संस्कृति से दूर होते जा रहे हैं। यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। केवल अक्षर ज्ञान और विभिन्न स्रोतों से सूचनाएं एकत्रित करने तक शिक्षा का उद्देश्य सीमित नहीं है। बच्चों और युवाओं को महापुरुषों के द्वारा दिखाये गये सन्मार्ग में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करना, उनमें राष्ट्र निर्माण एवं लोक सेवा की भावना जाग्रत करना ही शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है।

स्व–मूल्यांकन हेतु वस्तुनिष्ठ एवं अति लघुत्तरीय अभ्यास प्रश्न

सही विकल्प चुनिये

१. इनमें से किसका सम्बन्ध गाँधीजी से नहीं हैं–

अ– सविनय अवज्ञा आन्दोलन ब–भारत छोड़ो आन्दोलन स–मजदूर आन्दोलन द–बेटी बचाओ आन्दोलन

२. गाँधी जी द्वारा लिखित पुस्तक का नाम है–

अ–डिसकवरी ऑफ इन्डिया ब–भगवद्गीता स–सत्य के प्रति मेरे प्रयोग द–लाइफ डिवाइन

३. गाँधी जी का प्रिय भजन था–

अ–लाज राखो हरि ब–हे री मैं तो प्रेम दिवानी स–काहे री नलिनी तू कुम्हलानी द–वैष्णव जन तो तेणे कहिये

४. गाँधी जी के समाधि स्थल का नाम है–

अ–बौटनिकल गार्डन ब–आमेर का किला स–वृन्दावन गार्डन द–राजघाट

५. गाँधी जी के मतानुसार निशुल्क बुनियादी शिक्षा कितने वर्ष की आयु तक अनिवार्य होनी चाहिए?

अ– पाँच वर्ष ब–सात वर्ष स–दस वर्ष द–पन्द्रह वर्ष

12.4. स्वामी विवेकानन्द

12.4.1. जीवन परिचय

जनमानस में स्वामी विवेकानन्द की छवि प्रमुखतः श्री रामकृष्ण परमहंस के सन्यासी शिष्य और शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का शंखनाद करने वाले विजेता के रूप में है। परन्तु उनका इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण योगदान आलस्य और अन्धकार में डूबी हुयी राष्ट्रीय चेतना को झकझोर कर जगाने का रहा है। वे सन्यासियों और अध्यात्ममार्गियों के प्रेरणास्रोत तो हैं ही, परन्तु उससे अधिक वे इस राष्ट्र के युवाओं के प्रेरणास्रोत रहे हैं, जिन्हें उन्होंने साहस एवं आत्मबल का सम्बल तथा आधुनिक बौद्धिक दृष्टि का दान दिया है। इस राष्ट्र के सर्वांगीण पुनर्जागरण के लिए इतिहास सदैव उनका ऋणी रहेगा। आश्चर्य नहीं है कि उनका जन्म दिवस आज युवा दिवस के रूप में मनाया जाता है।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म १२ जनवरी १८६३ को कलकत्ता में हुआ था। उनका बचपन का नाम नरेन्द्र दत्त था। उनके पिता श्री विश्वनाथ दत्त कलकत्ता उच्च न्यायालय में वकील थे। उनकी माता भुवनेश्वरी देवी अत्यन्त धर्मपरायण महिला थीं। बचपन से ही नरेन्द्र एक कुशाग्र बुद्धि एवं जिज्ञासु प्रवृत्ति के बालक थे। छात्र जीवन में उन्होंने विशेषकर दर्शन, इतिहास, विज्ञान, तथा कला का अध्ययन किया। साहित्य और संगीत में भी उन्हें दक्षता प्राप्त थी। एक मेधावी छात्र होने के साथ–साथ वह खेलों एवं शारीरिक व्यायाम में भी रुचि रखते थे। स्वस्थ शरीर स्वस्थ मन का आधार होता है, नरेन्द्र इसको अच्छी तरह समझते थे।

भारत के इतिहास में १६वीं सदी को पुनर्जागरण काल कहा जाता है। बंगाल के बौद्धिक परिवेश में इस समय एक समन्वय देखने को मिलता है – भारतीय संस्कृति की पुरातन वैदिक परम्परा तथा पाश्चात्य विज्ञान की आधुनिकता का समन्वय। नरेन्द्र अत्यन्त ही जिज्ञासु प्रवृत्ति के थे और पाश्चात्य विज्ञान के तर्कवाद से प्रभावित थे। एक बार कक्षा में विलियम वर्ड्सवर्थ की कोई कविता पढ़ायी जा रही थी जिसमें समाधि का वर्णन है। मनुष्य की आत्मा और परम ईश्वरीय सत्ता के मिलन की एक विशिष्ट स्थिति समाधि की अवस्था है। नरेन्द्र को इस प्रश्न ने परेशान करना शुरू किया कि क्या वास्तव में ईश्वर होता है, क्या उसको अनुभव किया जा सकता है? नरेन्द्र ने जब यह प्रश्न अपने अध्यापक से किया तो उन्होंनें कहा कि श्री रामकृष्ण परमहंस नामक एक साधु से मिलकर उनको यह आभास हुआ है कि ऐसा सम्भव है। बस, इसके बाद जिज्ञासु नरेन्द्र श्री रामकृष्ण परमहंस के पास जा पहुँचे, जो कलकत्ता से ग्यारह किलोमीटर दूर दक्षिणेश्वर के मन्दिर में रहते थे। श्री रामकृष्ण ने नरेन्द्र से सीधे सपाट शब्दों में कहा– हाँ, मैं ईश्वर को वैसे ही देखता हूँ, जैसे तुम्हें देख रहा हूँ, परन्तु उससे भी अधिक मूर्त रूप में। इस घटना के बाद नरेन्द्र श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य बन गये।

सन् १८८४ में पिता की मृत्यु के पश्चात, मात्र २५ वर्ष की आयु में नरेन्द्र ने सन्यास ग्रहण कर लिया, एक नये नाम के साथ – विवेकानन्द। अक्सर कहा जाता है कि सन्यास जीवन और जगत से एक तरह का पलायन है, किन्तु यह पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। जगत का रहस्य एवं सत्य जानने के लिये सन्यासी साधना की एक अवस्था में स्वयं को संसार से अलग कर लेता है, और एकान्त में आध्यात्मिक प्रश्नों का अध्ययन, चिन्तन और ध्यान करता है। कुछ वैसे ही, जैसे आप परीक्षा के समीप आते ही सारे परिवार से अलग एक कमरे में एकाग्रचित होकर अध्ययन करते हैं। सन्यासी भी जब ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जगत के रहस्य को समझ लेता है तब वापस संसार में आकर लोगों के हित के लिये उस ज्ञान का प्रचार एवं प्रसार करता है। महात्मा बुद्ध और आदि शंकराचार्य भी वर्षों तक जंगलों और पहाड़ों में विचरते रहे, ध्यान करते रहे, और अन्त में ज्ञान प्राप्त कर जनकल्याण के निमित्त उस ज्ञान के प्रचार प्रसार हेतु संसार में वापस लौटे।

विवेकानन्द के चरित्र की एक विशेष बात है कि वे गुरू का सम्मान तो करते थे, परन्तु वे गुरू से सन्देह व्यक्त करने या प्रश्न पूछने में कभी संकोच नहीं करते थे। एक बार का प्रसंग है कि उन्होंने श्री रामकृष्ण परमहंस से कहा–"कोई ईश्वर नहीं है और समाधि की अवधारणा भी मिथ्या है"। यह सुनकर मुस्कराते हुए परमहंस जी ने उन्हें अपने अगूँठे से छुआ और गुरू का स्पर्श मिलते ही विवेकानन्द को पूरा ब्रह्माण्ड घूमता हुआ प्रतीत हुआ। इस अनुभूति का वेग इतना अधिक था कि विवेकानन्द उसे सम्भाल नहीं पा रहे थे और वे घबराकर चिल्लाने लगे। यह समाधि के क्षणमात्र का अनुभव था। कई दिनों तक वे इस अनुभूति के आनन्द का अनुभव करते रहे।

स्वामी विवेकानन्द का जीवन ऐसे कई प्रेरणादायक प्रसंगों से भरा हुआ है। पिता की मृत्यु के बाद एक बार उनका परिवार आर्थिक संकट से जूझ रहा था। परिवार की सारी जिम्मेदारी विवेकानन्द के कन्धों पर थी। कुछ मित्रों के कहने पर वह श्री रामकृष्ण परमहंस के पास गये और उनसे अपने परिवार के संकट को दूर करने के लिये कहा। श्री रामकृष्ण ने उनसे स्वयं मन्दिर में जाकर माँ काली से प्रार्थना करने को कहा। विवेकानन्द तीन बार मन्दिर में गये और हर बार माँ काली के सामने हाथ जोड़कर खडे हो जाते थे। मन्दिर से बाहर आकर उनको याद आता था कि वह तो कुछ माँगने आये थे परन्तु हर बार माँ काली के सामने आकर भूल जाते थे। वह समझ गये कि यह उनके गुरू का ही कार्य है, और वह उन्हें समझाना चाहते थे कि अपने व्यक्तिगत दुखों को लेकर उस परमसत्ता के सामने रोना, गिड़गिड़ाना क्षुद्रता है।

सन् १८८६ में श्री रामकृष्ण परमहंस के समाधिस्थ होने के बाद विवेकानन्द ने बेलूर मठ की स्थापना की, और उसके बाद भारत–भूमि के चप्पे–चप्पे के भ्रमण पर निकल पड़े। इसी दौरान उन्हें ज्ञात हुआ कि शिकागो में विश्वधर्म सम्मेलन होने जा रहा है। उस समय वह कन्याकुमारी में एक शिला पर बैठे थे। अचानक उनको आभास हुआ कि मानों स्वयं उनके गुरू उनसे इस सम्मेलन में भाग लेने को कह रहे हों। इसी क्षण को यादगार बनाने के लिये बाद में कन्याकुमारी की उसी शिला पर भव्य विवेकानन्द स्मारक का निर्माण हुआ, जिसे देखने के लिए दूर–दूर से लोग आते हैं। यह बात १८६३ की है। कुछ मित्रों एवं शुभचिन्तकों की सहायता से स्वामी जी अमेरिका पहुँच गये। उस विशाल सभागार में अनेक धर्मगुरू अपने–अपने धर्म के बारे में व्याख्यान दे चुके थे। परन्तु ज्यों ही स्वामी विवेकानन्द ने अपने वक्तव्य का प्रथम वाक्य बोला–"मेरे अमरीका के भाइयों और बहनों", कर्णभेदी तालियों से सभागार दो मिनट तक गूँजता रहा। उनके आकर्षक व्यक्तित्व एवं सारगर्भित व्याख्यान ने लोगों को सम्मोहित कर दिया। उसके बाद वहाँ लोग उनको ही सुनने आते थे। आज भी लोग इन्टरनेट पर उनके इस व्याख्यान को प्रेमपूर्वक सुनते हैं, जिसका सार है कि सभी धर्म प्रेम, अहिंसा, सहिष्णुता तथा विश्वबन्धुत्व का संदेश देते हैं। स्वामी जी के आध्यात्मिक ज्ञान के समक्ष सारा विश्व नतमस्तक हो गया।

अपने मात्र उनतालिस वर्ष के जीवन काल में स्वामी जी ने जो कुछ भी भारत के युवाओं में एक नयी चेतना की स्थापना के लिये किया वह सदैव अनुकरणीय है। कई लोगों की मान्यता है कि ४ जुलाई १६०२ को सायं ६ बजे जब स्वामी जी अपने प्राण त्यागे तब वे समाधि और ध्यान की गहरी अवस्था में थे। कुछ घण्टों पूर्व ही, अपराह्न १ बजे से ४ बजे तक, स्वामी जी ने ब्रह्मचारियों की एक कक्षा में शुक्ल–यजुर्वेद तथा पाणिनीय व्याकरण पर एक लम्बा व्याख्यान दिया था। यह स्वामी जी के संस्कृत भाषा, वेदान्त और भारतीय संस्कृति के प्रति गहरे अनुराग को प्रकट करता है। स्वामी विवेकानन्द का यह अन्तिम कार्य ही उनकी अन्तिम शिक्षा है।

12.4.2. विवेकानन्दजी के विचार

जितना प्रिय गाँधी जी को भगवद्गीता थी, उतना ही प्रिय स्वामी विवेकानन्द को कठोपनिषद् था, विशेषकर यह मन्त्र –**"उतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत"।** इसी मन्त्र को आधार बना कर स्वामी जी ने भारत राष्ट्र को जागने का आह्वान दिया। मन्त्र का अर्थ है – उठो, जागो, और श्रेष्ठ महापुरुषों का सानिध्य प्राप्त कर उनसे आत्मा तक पहुँचने का मार्ग समझो।

विवेकानन्द ने वेदान्त दर्शन को व्याख्यायित करते हुए समझाया कि इस पूरे ब्रह्माण्ड में जो शक्ति है वह हम सब में, सृष्टि के कण कण में विद्यमान है। हम केवल अज्ञानवश, अँधकार में अपनी आँखे बन्द किये हुए, अपनी शक्तियों को नहीं पहचान पा रहे हैं। आत्मा के लिये कोई कार्य असम्भव नहीं है। स्वामी जी कहते थे कि आप तब तक ईश्वर में विश्वास नहीं कर सकते जब तक आप स्वयं पर विश्वास करना न सीख लें। संसार में यदि कोई पाप है, तो वह है स्वयं को कमजोर समझना। मानव के भीतर जब स्वयं ईश्वर का वास है तब वह कमजोर कैसे हो सकता है ? वह कहते हैं–"जब तक डर का थोड़ा भी अंश तुम्हारे भीतर होगा, ईश्वर प्रेम नहीं हो सकता है। भय और प्रेम एक साथ नहीं रह सकते हैं। ईश्वर से सच्चा प्रेम करनेवालों में भय हो ही नहीं सकता है"।

वह युवाओं से आग्रह करते हुये कहते हैं कि "दूसरों के सहारे की प्रतीक्षा मत करिये, जो करना है स्वयं कीजिए। कभी निराश नहीं होना चाहिये, क्योंकि निराश होने से जीत का रास्ता कठिन हो जाता है।" एक और महत्वपूर्ण सत्य की ओर स्वामीजी इंगित करते हैं कि यदि जीजस और बुद्ध उस परम सत्य को जान सकते हैं, तो हर व्यक्ति भी उस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। हम अज्ञानवश स्वयं को हीन मानते हुये इसे असम्भव मानते हैं, जो सच नहीं है। कई जन्मों के प्रयास के उपरान्त एक आत्मा जीजस या बुद्ध बनकर हमारे सामने आती है। हमें बस पूरे मन से, इमानदारी से प्रयास करते रहना है।

स्वामी जी मन की एकाग्रता पर बहुत जोर देते थे। वह स्वयं विलक्षण स्मृति के धनी थे। एक बार किसी ने स्वामी जी को एनसाइक्लोपीडिया पढ़ने को दिया। स्वामी जी ने ३०० पृष्ठ पढ़े थे कि तभी उनका एक शिष्य आया। उसने एनसाइक्लोपीडिया देखकर कहा–"इसको पढ़कर याद रखना बहुत मुश्किल है"। इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया–"कुछ मुश्किल नहीं है, मुझसे तुम इन तीन सौ पृष्ठ में से कहीं से भी कुछ भी पूछ लो"। और उन्होंने पूरे ३०० पृष्ठ जैसे के तैसे बता दिये। है न आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय! परन्तु यह कोई चमत्कार नहीं है।

स्वामी जी बारम्बार हमें याद दिलाते हैं कि मानव अन्नत सम्भावनाओं एवं असीमित शक्तियों का भण्डार है, बस उसमें आत्मविश्वास होना चाहिये और इनको विकसित करने के लिये सतत प्रयासरत होना चाहिये। यह विलक्षण एकाग्रता एवं स्मृति प्रत्येक प्राणी प्राप्त कर सकता है। वह कहते है–"जीवन में हम बच्चे को सिखाते हैं कि झूठ नहीं बोलना चाहिये, चोरी नहीं करनी चाहिये, परन्तु किस प्रकार उसमें इतनी दृढ़ इच्छा शक्ति विकसित हो सकती है? इसका एकमात्र उपाय है ध्यान।" आप सभी जानते हैं कि छात्र जीवन में सुव्यवस्थित तरीके से अध्ययन हेतु मन का एकाग्र होना पहली अनिवार्यता है। अतः प्रतिदिन ध्यान करने से हम अपने चंचल मन पर नियन्त्रण कर सकते हैं।

शिक्षा के बारे में स्वामीजी का कहना है कि शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है। केवल परीक्षायें उर्त्तीण करने से कोई व्यक्ति शिक्षित नहीं हो जाता है। जो शिक्षा जनसाधारण को जीवन संघर्ष के लिये तैयार नहीं करती है, चरित्र निर्माण नहीं करती है, जो समाज सेवा की भावना विकसित नहीं करती है, और शेर जैसा साहस नहीं पैदा करती है, ऐसी शिक्षा से क्या लाभ? लॉर्ड मैकॉले द्वारा दी गयी शिक्षा पद्धति में भारतीय चिन्तन हाशिये पर डाल दिया गया है। स्वामीजी का कहना था कि आत्मविद्या और भारतीय दर्शन के बिना विश्व अनाथ और दिशाहीन हो जायेगा। स्त्रियों की शिक्षा के विषय में वह कहते हैं कि वेदान्त यह सिखाता है कि सबमें एक ही आत्मा का वास है, फिर इस देश में स्त्री–पुरूष में भेद क्यों किया जाता है। शिक्षा पर दोनों का समान अधिकार होना चाहिये। संसार की समस्त जातियाँ नारियों का सम्मान करके ही उन्नत हुई है। स्वामीजी का कहा गया हर वाक्य अमृत तुल्य है, एक संजीवनी की भाँति है, जो कभी भी जीवन में नैराश्य और अवसाद नहीं आने देगा।

युवाओं के लिए स्वामी विवेकानन्द का संदेश है कि "अपना जीवन बनाओ, उसी के बारे में सोचो, उसी के सपने देखो और उसी लक्ष्य के लिये जियो, अपना तन मन दिमाग उसी में लगाओ और सारी चिन्ताओं को भूल जाओ। यही सफलता का रास्ता है। हम जैसा सोचते हैं, वैसे ही बन जाते हैं, तो कोशिश करें, आप जैसा बनना चाहते हैं वैसा ही सोचें और महसूस करें।

"स्व–मूल्यांकन हेतु वस्तुनिष्ठ एवं अतिलघुत्तरीय अभ्यास प्रश्न

सही विकल्प चुनिये

1. १८६३ का विश्व धर्म सम्मेलन कहाँ पर हुआ था?

अ–न्यूयार्क ब– शिकागो स–वॉशिंगटन द–कैलिफोर्निया

2. विवेकानन्दजी के गुरु थे

अ–स्वामी रामतीर्थ ब–शंकराचार्य स–श्री रामकृष्ण परमहंस द–श्री माधवाचार्य

3. इनमें से किसमे विवेकानन्दजी की रुचि नहीं थी?रू

अ–खेल ब–व्यायाम स–पठन पाठन द–तलवारबाजी

4. मृत्यु से पहले विवेकानन्दजी ने क्या किया?

अ–उपदेश सुना ब–गाना गाया स–ब्रह्मचारियों को व्याख्यान दिया द–भोजन किया

5. इनमें से विवेकानन्दजी ने कौन सा संस्थान स्थापित किया?

अ– प्रार्थना समाज ब–श्री रामकृष्ण मिशन स–आर्यसमाज द–विवेकानन्द स्मारक

12.5 श्री अरविन्द

12.5.1 जीवन परिचय

श्री अरविन्द का जन्म १५ अगस्त १८७२ को कलकत्ता में हुआ। आपने देखा कि इससे कुछ वर्ष पूर्व ही विवेकानन्द १८६३ और गाँधी जी १८६६ में जन्म ले चुके थे। दस वर्ष से भी कम समय के अन्तराल में तीन तीन महापुरुषों का भारत भूमि पर अवतरण हमें श्रीकृष्ण के वचन की याद दिलाता है कि जब जब धरती पर धर्म की ग्लानि और अधर्म का उत्थान होता है परम प्रभु स्वयं मानव शरीर धारण कर जन्म लेते हैं। भारत में १६वीं सदी वह कालखण्ड है, जब राष्ट्र अंग्रेजों की दासता और अत्याचार से पीड़ित था, तथा जनमानस घोर निराशा और जड़ता के अन्धकार में डूबा हुआ था। इस विकराल असुर के अन्त के लिए दिव्यदृष्टि और आत्मबल से ओतप्रोत एक नहीं तीन तीन महावीरों का जन्म अनिवार्य था।

विवेकानन्द का कार्य इस राष्ट्र के निरन्तर क्षीण होते सनातन धर्म की **पुनर्स्थापना** तथा युवाओं के मन में व्याप्त अज्ञान, भीरुता और नपुंसकता के तमस को छिन्नभिन्न करना था। गाँधी जी का जन्म अंग्रजों के अन्याय, दमन और शोषण के शासन को भारत से ही नहीं वरन् पूरे विश्व से निर्मूल करना था। श्री अरविन्द का कार्य इस राष्ट्र के प्राण में विस्मृत हुए सनातन सत्य और जीवन की दिव्यता को अपने अलौकिक जीवन के उदाहरण से पुनः जाग्रत करना था। यह हमारे इन्हीं पूर्वजों की देन है कि आज हम गर्व और गौरव से भारत राष्ट्र को विश्वगुरू के रूप में उदय होते देखने का स्वप्न संजोए हुए हैं।

श्री अरविन्द के पिता डॉ. कृष्णधन घोष विलायत से डॉक्टरी की पढ़ाई करके लौटे तो अंग्रेजियत के कट्टर भक्त होकर आये। श्री अरविन्द को जन्म के समय जो नाम

दिया गया उसमें बीच में विलायती नाम भी जोड़ा हुआ था – अरविन्द ऐक्रॉइड घोष। घर में आया रखी गयी तो वह भी अंग्रेज। स्कूल भेजा गया तो दार्जिलिंग के लोरेटो कॉन्वेन्ट में जहाँ केवल विलायती बच्चे पढ़ते थे। फिर आगे पढ़ने के लिए केवल सात वर्ष की आयु में देशनिकाला देकर इंग्लैण्ड भेज दिया गया। वहाँ उन्हें अपने दो और भाइयों के साथ एक अंग्रेज पादरी दम्पति के संरक्षण में इस हिदायत के साथ रखा गया कि यह बच्चे कभी भी किसी हिन्दुस्तानी वस्तु, व्यक्ति या विचार के सम्पर्क में न आने पायें। उद्देश्य था इन बच्चों को पक्के अंग्रेज की शक्ल मे ढालना।

श्री अरविन्द इतनी उत्कृष्ट प्रतिभा के धनी थे कि प्रारम्भ से ही इंग्लैण्ड प्रवास के दौरान उन्होंने पाश्चात्य भाषाओं, साहित्य, चिन्तन और संस्कृति को कुछ इस समग्रता में आत्मसात कर लिया कि जब वे केम्ब्रिज में उच्च शिक्षा के लिए पहुँचे तो उनके अंग्रेज सहपाठी भी उनके सामने कहीं नहीं ठहरते थे। केम्ब्रिज में ही वे भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन से जुड़े गुप्त संगठनों के सम्पर्क में आये, और उन्हें आभास हुआ कि इस आन्दोलन में योगदान करना उनकी नियति है। ऐसे में वे पिताजी की उन्हें आइ.सी.एस. अफसर बनाने की अभिलाषा कैसे पूरी करते? मेधावी थे, तो आइ.सी.एस. की लिखित परीक्षा उत्कृष्ट अंको से पास कर गये। उन दिनों आइ.सी.एस. बनने के लिए प्रयोगिक परीक्षा की भाँति घुड़सवारी की परीक्षा भी पास करनी पड़ती थी। भाँति भाँति के बहाने करते हुए, श्री अरविन्द घुड़सवारी की परीक्षा में सम्मिलित होने से बचते रहे। इस तरह अन्ततः उन्हें आइ.सी.एस.के लिए अयोग्य घोषित कर दिया गया।

उन्हीं दिनों बड़ौदा नरेश इंग्लैण्ड में थे। श्री अरविन्द उनसे मिले, और बड़ौदा की राजकीय सेवा में उन्हें आइ.सी.एस. के समतुल्य वेतन पर रख लिया गया। चौदह वर्ष के अंग्रेजी बनवास के बाद १८६३ में जब वे भारत वापस लौटे, तो यहाँ की भाषा, संस्कृति और साहित्य से पूरी तरह अनभिज्ञ हो लौटे थे। यहाँ तक कि अपनी मातृभाषा बाँग्ला का ककहरा भी उन्हें नहीं आता था। बुद्धि मेधावी हो तो कौशल कोई भी प्राप्त किया जा सकता है। श्री अरविन्द ने संस्कृत, बाँग्ला और कुछ अन्य भारतीय भाषाएं सीख कर कुछ ही वर्षों में वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, कालिदास, भर्तृहरि का सोपांग अनुशीलन सम्पन्न कर लिया।

बड़ौदा में ही उन्होंने योगाभ्यास प्रारम्भ किया, और मराठी महात्मा लेले के निर्देशन में जो एक दिन ध्यान साधने बैठे तो कुछ ही घण्टों में निर्वाण की अवस्था प्राप्त कर ली। इन्हीं दिनों स्वतन्त्रता संग्राम आन्दोलन से वे इतनी गहराई से जुड़े कि मन के साथ साथ उनका पूरा वेतन ही आन्दोलन को समर्पित था। परन्तु राजकीय सेवा की सीमाओं के कारण वे खुलकर आन्दोलन का हिस्सा नहीं बन पा रहे थे। १६०५ मे अंग्रेजो द्वारा बंगाल विभाजन की घोषणा के बाद वे खुलकर राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। बड़ौदा की नौकरी छोड़ कर वे कलकत्ता आ गये। यहाँ से 'युगान्तर' और 'वन्दे मातरम्'

में लगातार प्रकाशित होने वाले उनके लेखों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के चिन्तन को एक नयी दिशा और ऊर्जा प्रदान की। बाल गंगाधर तिलक और बिपिन चन्द्र पाल जैसे राष्ट्रवादी कांग्रेस के नेताओं का साथ देते हुए १६०७ में उन्होंने सूरत के राष्ट्रीय अधिवेशन में कांग्रेस का विभाजन करवा दिया। श्री अरविन्द के बढ़ते प्रभाव से भारत के वाइसराय लॉर्ड मिन्टो कुछ इस तरह चिन्तित हो उठे कि उन्होंने इंग्लैण्ड की सरकार को पत्र लिखा कि "यह सर्वविदित तथ्य है कि अरविन्द सबसे खतरनाक इन्सान हैं जिनसे हमारा सामना हुआ है"। उनसे निपटने के लिए अंग्रेजी सरकार किसी भी सीमा तक जाने के लिए दृढ़संकल्प थी। कई बार उन पर देशद्रोह का असफल आरोप लगाया गया। 'वन्दे मातरम्' के जून १६०७ के अंक मे प्रकाशित किसी लेख को देशद्रोहात्मक कहते हुए जब श्री अरविन्द को गिरफ्तार कर लिया गया, तो पूरा बंगाल सहानुभूति, क्षोभ और क्रोध से व्यथित हो उठा। इस अवसर पर कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कविता लिखीः

अरविन्द, रवीन्द्रर लहो नमस्कार ! हे बन्धु, हे देशबन्धु, स्वदेश आत्मार।

वाणी मूर्ति तुमि ! तोमा लागि लहे मान, नहे धन, नहे सुख, कोनो क्षुद्र दान।।

अन्ततः १६०८–०६ में उन्हें अतिप्रसिद्ध अलीपुर बमकाण्ड में एक वर्ष के लिए जेल में डाल दिया गया। अलीपुर जेल में श्री अरविन्द को भगवान वासुदेव के दर्शन हुए। जेल से बाहर आने के बाद उत्तरपाड़ा की एक जनसभा में उन्होंने इस अलौकिक दर्शन का विस्तार से वर्णन किया। उन्होंने बताया कि जज, वकील, जेल की सलाखें, तमाम कैदी और कारागार के कम्बल तक में उन्हें भगवान वासुदेव ही दिखायी दे रहे थे। अंग्रेजी सरकार किसी भी तरह उन्हें फिर से जेल में डालने का यत्न कर रही थी, कि एक दिन फरवरी १६१० में उन्हें फ्रेन्च कॉलोनी चन्द्रनगर प्रस्थान करने का ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ। कुछ ही क्षणों में श्री अरविन्द ने कलकत्ता के उस राष्ट्रीय आन्दोलन के संसार से सदैव के लिए विदा ले ली। उनको प्रतीति हो चुकी थी कि इस आन्दोलन में अब उनके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहा और राष्ट्र की स्वतन्त्रता निश्चित एवं अवश्यम्भावी थी।

अगले ईश्वरीय आदेश का अनुपालन करते हुए श्री अरविन्द ने ४ अप्रैल १६१० को पॉण्डिचेरी में पदार्पण किया। यहाँ अपने कुछ शिष्यों के साथ वे गहन योग–साधना में तल्लीन थे। मार्च १६१४ में श्री माँ (मिर्रा अलफासा) का अपने पति पॉल रिशा के साथ पॉण्डिचेरी आगमन हुआ। यहाँ आने से पूर्व ही श्री माँ को उच्च कोटि की अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उन्हें एक सांकेतिक प्रश्न भी प्राप्त था जिसका उत्तर देने वाला उनका गुरू सिद्ध हो सकता था। श्री माँ को अपने प्रश्न का उत्तर श्री अरविन्द से मिला।

सार्वभौमिक सनातन दर्शन और आध्यात्मिक दृष्टि के आधुनिक प्रस्तुतीकरण के लिए पॉल रिशा, श्री माँ और श्री अरविन्द ने सम्मिलित रूप से १५ अगस्त १६१४ को

'आर्य' नाम के अंग्रेजी मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। परन्तु कुछ समय पश्चात ही विश्वयुद्ध के कारण श्री माँ और पॉल को वापस स्वदेश फ्रांस जाना पड़ा। परिणाम स्वरूप, 'आर्य' के सम्पूर्ण लेखन और प्रकाशन का दायित्व अकेले श्री अरविन्द के कन्धों पर आ पड़ा। इसे विधि का विधान ही कहेंगे, क्यों कि कविताओं, पत्रों और पूर्व–प्रकाशित राजनैतिक लेखों को छोड़कर श्री अरविन्द के सभी ग्रन्थों का प्रकाशन 'आर्य' के पृष्ठों में ही हुआ। १५ जनवरी १६२१ को साढ़े छः साल बाद जब 'आर्य' बन्द हुआ, तब तक श्री अरविन्द का लेखन कार्य सम्पन्न हो चुका था। सावित्री, द लाइफ डिवाइन, द सिन्थेसिस ऑफ योग, एसेज ऑन द गीता उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।२४ नवम्बर१६२६ को श्री अरविन्द को महासिद्धि प्राप्त हुयी, जब उनके रोम रोम में भगवान श्रीकृष्ण का अवतरण हो गया। उसी दिन से पृथ्वी पर सृष्टि के उद्धार एवं रूपान्तरण हेतु 'अतिमानस' के अवतरण के लिए उन्होंने पूर्णरूपेण एकान्तवास का व्रत धारण कर लिया। अब वे वर्ष में केवल चार दर्शन–दिवसों को अपने शिष्यों तथा भक्तों को दर्शन देने के लिए अपने कक्ष से बाहर आते थे। ५ दिसम्बर १६५० को श्री अरविन्द ने देह त्याग महाप्रयाण किया, और उसके बाद उनके कार्य को श्री माँ ने आगे बढ़ाया। श्री माँ द्वारा स्थापित विश्व एकता का प्रतीक ऑरोविल नगर और पॉण्डिचेरी में श्री अरविन्द आश्रम आज लाखों लोगों के तीर्थस्थल हैं।

12.5.2. श्री अरविन्द का जीवन दर्शन

कोई भी महापुरुष अपने जीवन का कालखण्ड जीता है, और अपने युग की

समग्र चेतना को नये सिरे से व्यवस्थित और रूपान्तरित करता है। भगवान राम का कालखण्ड त्रेता है – जहाँ धर्म के तीन पद शेष हैं, चौथा लुप्त है। श्रीकृष्ण के कालखण्ड द्वापर में केवल दो पैर बचे हैं। इसलिए श्रीराम और श्रीकृष्ण का कार्यक्षेत्र भिन्न है, उनकी मान्यताएं और उनका कार्य भिन्न है। अतएव इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन अध्ययनकर्ता की मानसिक मूढ़ता का द्योतक है।

इसी प्रकार १६वीं–२०वीं सदी का आधुनिक युग श्री अरविन्द का कार्यक्षेत्र है। वे पाश्चात्य और भारतीय दोनों संस्कृतियों के मर्मज्ञ थे। आपने देखा कि किस तरह इंग्लैण्ड उनके लिए उनका गोकुल था। वे वहीं पढ़े और बड़े हुए थे। भारत लौटने पर जिस तरह उन्हें निर्वाण और वासुदेव दर्शन की प्राप्ति हुई, उससे इस देश की पूरी की पूरी धरोहर ही उन्हें मिल गयी थी।

१६वीं सदी के पश्चिमी जगत में जिस गति से विज्ञान, टेक्नॉलजी, उद्योगों तथा कल–कारखानों का अभ्युदय हुआ, उसने उस सभ्यता की जड़े हिला कर रख दी। प्रमाण और साक्ष्यों पर आधारित वैज्ञानिक सोच ने पश्चिम की आस्था के संसार को ही हाशिए पर डाल दिया, क्योंकि आस्था के पास प्रमाण का सर्वथा अभाव है। प्रमाणिकता

तो केवल पदार्थ, देह और उनमें निहित प्रक्रियाओं की है। १६वीं सदी के अन्त तक पश्चिमी जनमानस में श्रद्धा और विश्वास का ऐसा संकट व्याप्त हो चुका था कि लोगों का विश्वास (faith) में ही विश्वास नहीं रहा। नयी विचारधारा ने एक के बाद उद्घोषणा की कि ईश्वर मर चुका है, लेखक मर चुका है, ट्रैजेडी–जो उनके साहित्य का मूल थी, वह मर चुकी है। यही प्रत्यक्ष भूमि श्री अरविन्द के कालखण्ड को विरासत में मिली। १६वीं सदी के भारतीय जनमानस में प्राणिक, मानसिक और बौद्धिक तमस अपनी पराकाष्ठा पर थी। थके, हारे, निराश मन में संघर्ष की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। इसीलिए इस जनमानस को विवेकानन्द ने 'उत्तिष्ठत जाग्रत – उठो और जागो' का नारा दिया। श्री अरविन्द के जीवन दर्शन को समझने के लिए इस पृष्ठभूमि की समझ आवश्यक है। आधुनिक मानव सभ्यता के संकट की विवेचना करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि एक तरफ भौतिकवादी दृष्टिकोण है जो आत्मा, ईश्वर और पारलौकिक सत्ता को पूरी तरह से अस्वीकार करता है, और दूसरी तरफ भारत में बुद्ध और शंकराचार्य द्वारा पोषित संन्यासी का दृष्टिकोण है जो इस भौतिक जगत की सत्ता को माया, मिथ्या, प्रपंच और लीला बता कर पूर्णरूपेण अस्वीकार कर देता है। श्री अरविन्द के अनुसार यह दोनों ही मत एकांगी हैं, और भारत के प्राचीन मूल चिन्तन से सर्वथा भिन्न।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में उन्होंने विवस्वान (सूर्य) को शाश्वत योग की शिक्षा दी थीय वही ज्ञान, जो कालान्तर में लुप्तप्राय हो चुका था, वे एक बार पुनः अर्जुन को देते हैं। इसी प्रकार श्री अरविन्द ने देखा कि भारतीय चिन्तन की शाश्वत परम्परा के एक पुरातन पक्ष को बुद्ध और शंकर के शून्यवाद–मायावाद का आंशिक ग्रहण लग चुका है। बुद्ध और शंकर से सहस्राब्दियों पूर्व भारतीय ऋषियों ने जिस सत्य का साक्षात्कार किया था वह था, "सर्वं खलविदं ब्रह्म" या गीता के शब्दों मे "वासुदेवः सर्वमिति"। यह संसार, यह सृष्टि, यह जीवन जो हम अन्दर–बाहर जीते हैं, यह सब अपने वास्तविक स्वरूप में ब्रह्म है, भगवान वासुदेव के अनन्त रूप हैं। रज्जु में सर्प का भ्रम हो, तो वहाँ तत्त्वदोष नहीं, दृष्टिदोष है।

श्री अरविन्द का मार्ग सांसारिक जीवन की अस्वीकृति, इससे पलायन, या संन्यास का मार्ग नहीं है। वे इस जीवन के रूपान्तरण की बात करते हैंय दृष्टिदोष से मुक्ति का मार्ग खोजने की प्रेरणा देते हैं। एक अन्य इकाई में आपने देखा कि किस तरह धृतराष्ट्र इस दृष्टिदोष की पराकाष्ठा हैं – वे तो पूरे के पूरे दृष्टिहीन हो चुके हैं। दृष्टि पर अज्ञान का आवरण है, इसलिए दृष्टिदोष है। अज्ञान हटते ही कण कण में आत्मा और भगवान वासुदेव के दर्शन होने लगते हैं, और तब केवल हमारा अन्दर–बाहर की जीवन ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि ही अपनी दिव्यता के स्वरूप को प्राप्त होती है। रूपान्तरण का यह सिद्धान्त पढ़ने में बहुत आसान जान पड़ता है, मगर व्यवहार में इस पथ पर एक कदम बढ़ाने में ही पसीना छूटने लगता है। विवेकानन्द के प्रिय मन्त्र की

अगली पंक्ति कहती है कि यह मार्ग तलवार की धार पर चलने जैसा है –"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति"। श्री अरविन्द कहते हैं कि पहला कदम आरोह (Ascent) का हैय ऊपर उठ कर आत्मा की भूमि में स्थिति प्राप्त करने का है। अगला कदम अवतरण (Descent) का हैय जो प्राप्ति है, सिद्धि है, उसे मन, प्राण और शरीर की भूमि में स्थापित करना पड़ता है, तभी रूपान्तरण घटित होता है। सत्य केवल देखने, समझने और जानने की चीज नहीं है– उसे जीना पड़ता है। यही गाँधी, विवेकानन्द और श्री अरविन्द के जीवन की सीख है।

श्री अरविन्द के चिन्तन की एक और महत्वपूर्ण दृष्टि है, इस सृष्टि की सार्थकता। इस सम्पूर्ण सृष्टि तथा हमारे जीवन के हर पल में जो घटित होता है, उसका एक प्रयोजन है, एक उद्देश्य है। सृष्टि की गति में एक विकास की धारा या इवोल्युशन परिलक्षित है। विष्णु भगवान के अवतारों में यही क्रमिक विकास दिखता है – मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह। चौरासी लाख योनियों की अवधारणा में भी यही बात दिखती है। क्रमिक विकास की यह अवधारणा डार्विन के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। श्री अरविन्द कहते हैं कि विकास आत्मा और परम तत्त्व का उत्तरोत्तर प्राकट्य है। महापुरुषों और सामान्यजन में भेद इसी प्राकट्य के परिमाण का है। इस प्रकार श्री अरविन्द का जीवन दर्शन हमें अज्ञान के बेड़ियों से मुक्ति तथा महापुरुषों की श्रेणी की ओर एक और कदम बढ़ाने के लिए प्रेरित करता है।

स्व–मूल्यांकन हेतु वस्तुनिष्ठ एवं अतिलघुत्तरीय अभ्यास प्रश्न

सही विकल्प चुनिये

1. श्री अरविन्द ने किस विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त की?

अ–ऑक्सफोर्ड ब–केम्ब्रिज स–हार्वर्ड द–कलकत्ता

2. श्री अरविन्द के प्रमुख ग्रन्थों का प्रकाशन किस पत्रिका में हुआ?

अ–कर्मयोगी ब–युगान्तर स–आर्य द–वन्दे मातरम्

3– इनमें से कौन सी आधुनिक पाश्चात्य अवधारणा नहीं है?

अ–ईश्वर मर चुका है ब–लेखक मर चुका है स–उठो और जागो द–ट्रैजेडी मृत हो चुकी है

4– इनमे से किससे श्री अरविन्द का मतान्तर था?

अ–शून्यवाद–मायावाद ब–वासुदेवः सर्वमिति स–अयमात्मा ब्रह्म द–क्रमिक विकास

5– किस उपनिषद् में अध्यात्म मार्ग को "क्षुरस्य धारा" कहा गया है?

अ–ईशोपनिषद् ब–कठोपनिषद् स–केनोपनिषद् द–मुण्डक उपनिषद्

12.6. सारांश

इस इकाई में आपने जाना कि –

- गाँधी जी के व्यक्तित्व पर उनकी बचपन की घटनाओं का बहुत प्रभाव रहा है।
- महात्मा गाँधी का सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र की स्वतन्त्रता और नागरिकों के मूल अधिकारों के संघर्ष को समर्पित था।
- रूपान्तरण की संकल्पना क्यों की जाती है।
- स्वामी विवेकानन्द ने कैसे भारतीय दर्शन को विश्व में आदर दिलाया, और किस तरह वे इस राष्ट्र के युवाओं के लिए प्रेरणास्रोत रहे।
- किस प्रकार श्री अरविन्द भारतीय और पाश्चात्य दर्शन का समन्वय प्रस्तुत करते हैं।

1.2.7. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

गाँधी जी

1. द– बेटी बचाओ आन्दोलन 2. स– सत्य के प्रति मेरे प्रयोग 3. द– वैष्णव जन तो तेणे कहिये 4. द– राजघाट 5. ब– सात वर्ष

विवेकानन्द

1. ब– शिकागो 2. स–श्री रामकृष्ण परमहंस 3. द–तलवारबाजी 4. स–ब्रह्मचारियों को व्याख्यान दिया 5. ब–श्री रामकृष्ण मिशन

श्री अरविन्द

1.ब–केम्ब्रिज 2.स– आर्य 3.स– उठो और जागो 4.अ– शून्यवाद–मायावाद 5.ब–कठोपनिषद्

12.8. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Gandhi- M-K- An Autobiography- Ahmedabad: Navajivan Publishing House] 1992-

The Complete Works of Swami Vivekanand] vol-3- Calcutta: Advaita Ashrama-

K R Srinivas Iyengar- Sri Aurobindo & A Biography and a History- Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram] 2006-